रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य का हिन्दी पर प्रभाव

रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य का हिन्दी पर प्रभाव

डॉ० प्रेमचन्द्र जैन

वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

ISBN : 81 : 7055 . 234 : 6

प्रकाशक
वाणी प्रकाशन
4697/5, 21-ए, दरियागज
नयी दिल्ली-2 द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण 1991

© लेखकाधीन

मूल्य : 110.00

आवरण · करुणानिधान

एस० एन० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 में मुद्रित

प्रिय भाई एवं अभिन्न मित्र स्वर्गीय प्रेम सिरसौद
की स्मृति को
सुहृद सिंघई लालचन्द्र शास्त्री को
और
श्रद्धेय डॉ० दरबारी लाल जैन कोठिया को सादर समर्पित

प्रेरणा

मुद्दत बाद डॉ० प्रेमचन्द्र जैन की इस कृति का प्रकाशन हो रहा है। यह मूलत: एम० ए० के एक लघु प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत की गयी थी। यह बड़े संतोष का विषय है, आज भी इस पुस्तक की प्रासगिकता ज्यों की त्यों बरकरार है। प्रेमचन्द्र ने न केवल अपभ्रश के मर्मी कवियो की रचनाओ का निगूढ विश्लेषण किया बल्कि उनके उस प्रभाव की भी विशद विवेचना की है जिसकी प्रेरणा से लिखा गया हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काव्य-जगत् ज्ञानमार्गी कवियो के स्वरों से आज भी झकृत हो रहा है। कबीर को कभी कवि मानने मे आचार्य शुक्ल ने तो कोताही की ही, बाद के उनके मतावलम्बी भी कबीर को गले के नीचे उतारने को तैयार नही हुए। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे समीक्षक डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी को धूमिल और म्लान बनाने के उद्देश्य से कबीरादि को साहित्येतर कहा करते थे। पण्डितजी इन मूर्खतापूर्ण विचारो से न तो आहत हुए, न ही उन्होंने अपनी कबीर विषयक मान्यता को बदलने की बात सोची। वे तो और भी बलपूर्वक उन रचनाओं के अध्ययन का परामर्श देने लगे जो धार्मिक होने के कारण, अथवा किसी धर्म सम्प्रदाय मे जुड़ी होने के कारण नकारी जाती रही। इसी संदर्भ में उन्होने जैनमर्मी कवियो की चर्चा को आवश्यक समझा और अपने उन शिष्यो को जो प्राकृत, अपभ्रश का ज्ञान रखते थे, जैनधर्म की पुरानी रचनाओ को विश्लेपित-विवेचित करने का काम सौपते रहे। मुझे इसी विचार और धारणा के अनुसार उन्होने सूरपूर्व ब्रजभाषा पर शोधकार्य का दायित्व सौपा। मैने अगर जयपुर, पाटण और बीकानेर के भण्डारो के हस्तलेखों का अध्ययन न किया होता तो सधार अग्रवाल जैसे चौदहवी शती के प्रथम ब्रजभाषा कवि को ढूढने मे सफलता प्राप्त न की होती। इसी के साथ-साथ प्रद्युम्नचरित जैसे जैन धर्मावलम्बियो के द्वारा रचित अनेक प्राचीन अपभ्रंश मिश्रित ब्रजभाषा काव्यो को पढ़कर ब्रजभाषा के विकासक्रम को शृखलाबद्ध करने मे सफलता न प्राप्त की होती।

प्रेमचन्द्र के इस कार्य के पीछे एक अद्भुत निष्ठा और फलाकांक्षा बिना निरन्तर कार्य करते जाने की निष्कामता विद्यमान रही। मैंने इनके इस प्रथम कार्य को देखकर ही इन्हें पी-एच० डी० के शोध प्रबन्ध के लिए 'अपभ्रश कथा काव्य और हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' जैसा कठिन दायित्व सौपा। उस शोध प्रबन्ध ने

अपभ्रंश की अनेकानेक साहित्यिक प्रवृत्तियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराया। इसी शोध प्रबन्ध का संकल्प 'सूरदास की पृष्ठभूमि में अपभ्रंश कृष्ण काव्य का अध्ययन' शीर्षक मान्धाता राय के पी-एच० डी० के शोध प्रबन्ध मे प्रतिच्छायित हुआ। इसी तरह का अध्ययन 'रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में अप-भ्रंश के शृंगारिक काव्यों का प्रभाव' स्पष्ट करने का दायित्व द्वारिकानाथ राय को सौंपा। इन तीनों शोध प्रबन्धों में मैंने तटस्थ भाव से अपने गुरु आचार्य द्विवेदीजी के सपनो को पूरा होते देखा।

इस ग्रंथ के प्रकाशन की इस तिथि (1.9.91) को मैं अपने से जुड़े अपभ्रंश अध्येताओं को आशीर्वाद देता हूं, विशेषत: प्रेमचन्द्र को, क्योंकि इस दिशा की ओर अभियान के यह प्रथम सेनानी है। मै अन्तरात्मा स्थित सत्य को साक्षीभाव मानता हूं और यह आशा करता हूं कि उसकी प्रेरणा से आगे भी हिन्दी को बहुत कुछ अछूता और मूल्यवान् कार्यावदान प्रदान करेंगे। इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए श्री वीरेन्द्र जैन और वाणी-प्रकाशन के अरुण महेश्वरी की प्रशंसा आवश्यक कर्त्तव्य है। इन्हे आशीष कहना ही संगत लगता है—

1.9.91 **शिवप्रसाद सिंह**

नयी दिल्ली

प्रत्याशा

हउ सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिलक्खणु णीसंगु।
एकहि अगि बसंतयहं मिलिउ ण अंगहि अंगु॥

मैं सगुणी हूँ, प्रिय निर्गुण है, निर्लक्षण है, नि सग है। एक ही अग मे निवसित होने के बावजूद अग से अग नही मिलता—यही रहस्य है और यह रहस्य तब तक रहस्य ही बना रहता है, जब तक इसके निगूढ़तम भेद से आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया जटिल है तथा भेदज्ञान पर निर्भर है। रहस्य-वाद हो या अन्य कोई वाद, गुरु का सर्वत्र महत्व है। गुरु ही निरापद मार्ग दर्शाता है। मुनि रामसिंह ने कहा—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परपरह जो दरिसावइ भेउ॥

वह जो कि स्वपर या अपनी आत्मा और पर की परम्परा का भेद विज्ञान करता है वह सूर्य-चन्द्रमा गुरु है। ऐसा ही गुरु 'मिलिउ ण अंगहि अंगु' की समस्या से छुटकारा दिलाता है। साधक शिष्य को आत्मबोध हो जाता है। आशकाएं समाप्त हो जाती है। किसी को पूजा चढ़ाने की आवश्यकता नही रहती। आत्म-तत्त्व परमात्मतत्व में परिणत हो जाता है—

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चढावउं कस्स॥

पूजा किसे चढ़ाऊ ? यह प्रश्न भी है और उत्तर भी यही है। ऐसे ही प्रसंगों पर लघुशोध प्रबन्ध की सीमाओ के अतिक्रमण को बचाते हुए मैंने प्रस्तुत कार्य एम० ए० के अन्तिम वर्ष में सम्पन्न किया था। इसमें क्या है और क्या नही है—इसकी चर्चा करना अपेक्षित नही है। जो भी है, विषयानुक्रमणिका के आधार पर यथास्थान है ही। एक लम्बे अन्तराल के बाद छपने की स्थिति में इसकी प्रासंगिकता को लेकर मेरे मन मे ऊहापोह अवश्य रहा। परन्तु गुरुवर डॉ० शिवप्रसाद-सिंह जी ने अपनी भूमिका देकर स्वत: ही मेरी आशंका का समाधान कर दिया। मुझे आत्मसंतोष है।

समर्पण के प्रसंग पर कुछ लिखना आवश्यक लग रहा है। स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में अध्ययन के दौरान प्रेमचन्द्र जैन 'सिरसौद', लालचन्द्र जैन 'पिड़रुआ' और मेरी अभिन्न मैत्री थी। दुर्भाग्य से प्रेम 'सिरसौद' को समय ने हमसे छीन लिया। दु:खी होने के अतिरिक्त मेरे पास कुछ शेष नही बचा। इस लघु शोध प्रबन्ध का विषय मुझे गुरुवर डॉ० शिवप्रसाद सिंह जी ने दिया था। एक दिन का० हि० वि० वि० के सस्कृत महाविद्यालय मे प्रेम जैनदर्शन का कोई ग्रथ डा० दरबारीलाल कोठिया से पढ़ रहा था। सयोग से मै और लालचन्द भी वही बैठे थे। कक्षा समाप्त होने पर मेरे उक्त शोध प्रबन्ध के शीर्षक से आद० कोठिया जी ने कहा कि जैन दर्शन मे रहस्यवाद को कोई स्थान नही है। बडबोलेपन मे मै कह गया कि यदि जैनो की अपभ्रश की रचनाए देखते है तो ऐसा है। अत. हमारे मान लेने मे क्या बुराई है? कोठिया जी विद्यार्थियो से क्रोधपूर्वक कुछ नही कहते थे। मुझे लगा कि उन्होने बिगड़कर कहा, तुम लोग ढोल ले लो और रहस्यवाद का ढिंढोरा पीटो...। हम लोग चुपचाप खिसक आये। बात आयी-गयी हो गई। प्रेम के देहावसान के बाद मैने तय किया कि यदि इस शोध का कभी प्रकाशन हुआ तो मै इसे प्रेम की स्मृति मे अपने साथी लालचन्द्र और आद० शुभचिन्तक कोठिया जी को समर्पित करूगा। स्व० प्रेम सिरसौद के छोटे भाई चि० वीरेन्द्र ने मुझे ऐसा अवसर दिलाया। मै हृदय से उन्हे शुभाशीष देता हूं।

जब इस शोध की तैयारी चल रही थी तब श्रद्धेय डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० प्रेमसागर जैन आदि विद्वानो ने पत्रो द्वारा मुझे भरपूर सहायता पहुंचाई। आद० पं० फूलचन्द सिद्धातशास्त्री, प० कैलाशचन्द शास्त्री के आशीषो को भी विस्मृत करना अपराध होगा। मै सभी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हू। इस कृति को दिल्ली तक पहुचा देने मे श्रीमती बसन्तमाला जैन का भी कम योगदान नही है। मै उनका आभारी हू। आवरण पृष्ठ की परिकल्पना एव सरचना के लिये मै अपने बनारसी सुहृद करुणानिधान के प्रति नत हूं। प्रस्तुत प्रकाशन मे श्री वीरेन्द्र जैन पहाड़वाले एवं प्रिय देवराज अतिशय प्रसन्न होगे। अतएव वाणी प्रकाशन के स्वामी श्री अरुण महेश्वरी का आभारी होना स्वाभाविक है। सुधी पाठको की प्रतिक्रियाओ की प्रतीक्षा रहेगी। जिन-जिन ग्रथो से सहायता ली गई है, उनके समस्त लेखको के प्रति सम्मान व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य है।

4, महाविद्यालय-परिसर
नजीबाबाद (बिजनौर)

प्रेमचन्द्र जैन

अनुक्रम

पाठकों से

पृष्ठ 18 पर ऋग्वेद 10,121/1 से उद्धृत मन्त्र को इस प्रकार पढ़ें

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीश्वामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

पृष्ठ 72 पर पाहुड दोहा से उद्धृत श्लोक 49 को इस प्रकार पढ़ें

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चढ़ावउ कस्स ॥

प्रास्ताविक

(1) जैन-साहित्य का अध्ययन, विशेषतः हिन्दी में, प्रायः ही नाना प्रत्यवायों से आक्रांत रहा है। एक ओर जहां इसे धार्मिक आग्रह का साहित्य कहकर बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया गया है, वहीं दूसरी ओर इसे धार्मिक जोश और रूढ़ दर्शन के प्रेमियों ने तरह-तरह की सीमाओं मे अनुकीलित करने की चेष्टा भी की है। पहले प्रत्यवाय के मुख्य उपस्थापक अजैन विद्वान् और साहित्य समालोचक रहे हैं तो दूसरे के निर्माता स्वय जैन अध्येता और विचारक। प्रथम प्रत्यवाय के मूल में वस्तु के सही ज्ञान का अभाव रहा है, तो दूसरे के मूल मे एक सीमित दृष्टि जो हमेशा ही साहित्य को साम्प्रदायिक विचारधारा के अंकुश से अनुशासित करना चाहती रही है।

जिस प्रकार धीरे-धीरे जैन साहित्य धार्मिक कुहेलिका से विच्छिन्न होकर सहज जीवन से स्पन्दित भावराशि का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहा है, उसी प्रकार यह धार्मिक दुराग्रहों से भी मुक्त होकर मानव मन की स्वाभाविक भाव-धारा से जुड़ेगा, इसमें सन्देह नही।

धार्मिक आग्रह के कारण विद्वान् लोग यह मानने में संकोच का अनुभव करते रहे है कि जैन धर्म में भी अन्य भारतीय धर्मों के समानान्तर एक रहस्यवादी चेतना से उद्दीप्त भावधारा प्रवाहित होती रही है। जैन धर्म कर्मकांड का ही पर्याय नहीं है। कामक्लेश तक ही यह साधना सीमित नही है। कुछ ऊपरी ग्रंथियों को ही जीवन का सही रूप मान लेने वाले भले ही जैन धर्म के अन्तर्गत मानसिक उत्कठा और असीम के प्रति सहज समर्पित भावना की सूक्ष्मता न देख पायें, या देखकर भी नजरअन्दाज करें किन्तु इतिहास की साक्षी को सर्वदा के लिए ठुकरा पाना न तो सम्भव ही न स्वाभाविक ही।

जैन धर्म में भी एक रहस्यवादी चेतना थी, और यह एक विशिष्ट चेतना थी। विशिष्ट इसलिए कि यह प्रायः धार्मिक नियमों की कड़ाई के भीतर, विरोधी परिस्थितियों में उत्पन्न होने के कारण अतिशय नवीन और कई दृष्टियों से अन्य भारतीय धर्मों में व्याप्त समानान्तर चेतना से भिन्न थी। मध्यकालीन जैन रहस्य-

वादियों ने अपनी आत्मा की अनन्य जिज्ञासा और आमुष्मिक तत्व के प्रति अपने आत्म-निवेदन को व्यक्त करने में कभी संकोच नहीं किया। अपभ्रंश उस समय की लोकभाषा थी। इन चिन्तकों ने आत्मानुभूतिपरक अतीन्द्रिय साहित्य को इसी लोकभाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया। मुनि रामसिंह इस लोकभाषा के व्यक्त रहस्यचेतना के स्वप्नद्रष्टा महान् पुरोधा थे। अपभ्रंश में इस धारा का बहुत अधिक साहित्य प्राप्त नही होता, किन्तु जो काल के क्रूर जबड़ों से बचकर सुरक्षित रह सका है वह परिणाम मे पुष्कल भले न हो, गुणात्मक रूप मे निस्संदेह विशिष्ट है।

इस साहित्य का अध्ययन न केवल एक अविज्ञात साहित्य को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है बल्कि इसलिए भी कि इस साहित्य के भीतर मध्यकालीन धर्मसाधनाओ और उनसे प्रेरित साहित्य की अनेक जटिल समस्याओं का समाधान भी अन्तर्निहित है। हिन्दी का निर्गुण संत साहित्य कबीर की रहस्यवादी हृत्तन्त्री से झंकृत है, किन्तु इसकी स्वर लिपियों के निर्माता अभी तक रहस्यवादी बौद्ध सिद्धों के प्रभावो का ही सयोग विठा पाये है। उन्हें यह जानकर बडा आश्चर्य होगा कि कबीर, दादू आदि सतों के साहित्य के अनेक तत्त्व, निरंजन, सुरति-निरति, प्रेम-पीडा और आत्मनिवेदन यहा तक कि बाह्याडम्बर विरोध और रूढ़ि-खण्डन की प्रवृत्तिया भी जैन रहस्यवादी अपभ्रंश कवियों से सीधे जुड़ी ही नहीं है, उन्ही का विकास मात्र है।

जैनियों का अपभ्रंश साहित्य तो धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहा है, पर ब्रज-भाषा आदि मे लिखा उत्तरमध्यकालीन साहित्य आज भी अन्धकार मे छिपा है। बनारसीदास जैसे जैन ब्रजभाषा कवि की उपेक्षा हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण अध्याय को विस्मृति के पटल से ढकने का अपराध कही जायेगी। बनारसीदास, भैया भगवतीदास जैसे कवि किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हो सकते है। बनारसीदास का साहित्य तो अब धीरे-धीरे प्रकाश मे भी आ रहा है। उनका अर्धकथानक बहुत पहले साहित्य के सहृदय विद्वानों और अनुसधित्सुजनों को आकृष्ट कर चुका है किन्तु उनका इतर साहित्य अभी तक विवेच्य नही बना है। बनारसीदास आदि कवियो के साहित्य की मूल चेतना भी रहस्यवादी ही है। इसको सही रूप से, सांगोपांग समझने के लिए भी अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्य को समझना अनिवार्य हो जाता है। इस लघु प्रबन्ध में अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी साहित्य का धार्मिक आग्रह से विनिर्मुक्त अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा तो की ही गई है इसके परवर्ती विकास तन्तुओ को भी सही ढंग से नियोजित करने का प्रयत्न किया गया है। एक तन्तु हिन्दी निर्गुण सन्त साहित्य से संयुक्त है दूसरा जैन रहस्यवादी ब्रजभाषा काव्य से। पहला प्रभावमूलक है दूसरा विकास-मूलक। इस प्रबन्ध में इसी दोहरे तन्तुजाल से समृद्ध जैन अपभ्रंश रहस्यवादी काव्य

को उसकी वास्तविक महत्त्वपूर्ण पीठिका पर आसीन कराने का प्रयत्न किया गया है।

(2) समस्त जैन साहित्य को दिगम्बर जैन सम्प्रदाय वालों ने चार भागों मे विभक्त किया है: 1. प्रथमानुयोग, 2. करणानुयोग, 3. द्रव्यानुयोग, 4. चरणानुयोग। प्रथम के अन्तर्गत पुराण, चरित और कथाग्रथ है : जैसे पद्मपुराण, पार्श्वपुराण, हरिवश पुराण, सुपार्श्वचरित आदि। द्वितीय में भूलोक-खगोल का, चारों गतियों का और काल विभाग का वर्णन है। जैसे त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, सूर्य-चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि। तृतीय में जीवाजीव आदि सप्त तत्त्वो का, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष का वर्णन वाले ग्रथ आते है। जैसे समयसार, प्रवचनसार, तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय आदि। चतुर्थ मे वह साहित्य आता है जिसमे मुनियो व श्रावको के आचार का विवेचन है। जैसे वट्टकेर का मूलाचार, समन्तभद्र का श्रावकाचार और आशाधर जी के अनगार धर्मामृत, सागार धर्मामृत आदि। जैन पुराणो के मूल प्रतिपाद्य विषय 63 शलाका (महा) पुरुषो के चरित्र है। इस सिद्धान्त साहित्य के अतिरिक्त सिद्धातोत्तर साहित्य भी जैनो मे कम नही लिखा गया। साधारणत: ये ग्रथ प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रंश मे ही रचे गये। आज साहित्य की सभी विधाओ पर जैन ग्रन्थ प्राप्य है। यहां इन ग्रथो की तालिका या इनके विषय में कोई जानकारी देना न तो मेरा लक्ष्य ही है और न आवश्यक ही।

जैन साहित्य एक लम्बे अरसे से धार्मिक साहित्य की पंक्ति मे आकर उपेक्षित होता रहा है। यही कारण है कि उसमे निहित कला, सस्कृति और सामाजिक इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री की जानकारी अब तक प्राप्त नही हो पाई। हिन्दी का उद्भव और विकास यदि अपभ्रश से माना जाता है तब इसमे कोई सदेह नही कि जैन अपभ्रंश साहित्य ने हिन्दी के विकास में योगदान न दिया हो। विगत कुछ ही वर्षो से विद्वानो का ध्यान इस ओर गया है और अब धीरे-धीरे जैन साधको के महत्त्वपूर्ण योगदान का मूल्याकन होने लगा है। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैन साहित्य के सम्बन्ध मे लिखते है, "इधर जैन अपभ्रश-चरितकाव्यो की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नही है। स्वयभू, चतुर्मख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नही चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि के अलग नही की जा सकती—कबीर की रचनाओ को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत करके बिदा कर देना होगा।"[1] डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं, "वास्तव में हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति और विकास मे जैन धर्म का बहुत हाथ

---

1. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' मे

रहा है···।"[1] प्रो० गुलाबराय के कथन मे भी इसकी पुष्टि होती है, "जो कुछ हो यह कहना पड़ेगा कि पुरानी हिन्दी के विकास मे जैनाचार्यों तथा बौद्धसिद्धों का बहुत कुछ हाथ था।"[2] इनके अतिरिक्त महापंडित राहुल साकृत्यायन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डॉ० मोतीचन्द, डॉ० ए० एन० उपाध्ये और डॉ० हीरालाल जैन की लेखनियो ने यह सिद्ध कर दिया है कि जैन साहित्य मे बहुत कुछ ऐसा है जिसे स्वीकार किये बिना कम-से-कम हिन्दी साहित्य का अध्ययन पूर्ण नहीं माना जायेगा। वास्तव मे यदि किसी साहित्य को भारतीय सस्कृति की कसौटी पर कसकर देखा जाय तो सम्प्रदायवाद को स्थान ही न मिले। जैन साहित्य को प्रकाशित न करने में इतिहासकारो को इतना अधिक दोषी नही ठहराया जा सकता जितना कि 'आख के अंधे गाठ के पूरे' कुछ जैन ग्रंथागारो के स्वामियो को। अब कुछ ग्रंथागारो के द्वार खुले है तो अपभ्रंश और हिन्दी की अनेक दुर्लभ पाडुलिपियां सुलभ हुई हैं जिन्हे हम छिपे रत्न कह सकते है।

इस विवेचन मे हिन्दी जैन इतिहास के अस्तित्व की सूचना मिलती है। अधिक विस्तार के लिए यहा स्थान नही। हिन्दी की निर्गुणधारा के कवियों पर सिद्धो के रहस्यवाद के प्रभाव की चर्चा अनेक विद्वानों ने की है। जैन रहस्यवाद को प्रथम तो स्वीकार ही नहीं किया जाता था परन्तु स्वीकार किये जाने के बाद भी इसके प्रभाव की चर्चा अब तक नही हुई है—यह प्रभाव दिखाना ही इस प्रबन्ध की मौलिकता होगी और यही मेरा लक्ष्य है। प्रासंगिक रूप से यहां हमे रहस्यवादी जैन-अपभ्रश काव्य पर विचार करना है। उपलब्ध जैन साहित्य में यदि जैनागमों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के विवाद को लेकर उन्हे छोड़ भी दिया जाए तो भी आचार्य कुन्द कुन्द (प्रथम शताब्दी)[3] से लेकर मध्यकाल के बाद तक जैन साधको द्वारा लिखित साहित्य की एक विपुल राशि ऐसी उपलब्ध होती है जिसे रहस्यवादी काव्य कहा जा सकता है। अपभ्रश काव्य पर दृष्टिपात करने पर छठी शताब्दी मे योगीन्दु कृत परमात्मप्रकाश और योगसार रहस्यवादी काव्य उपलब्ध होते है।[4] इनके अतिरिक्त प्रकाशित साहित्य मे मुनि रामसिह कृत पाहुड़ दोहा (1000 ई०)[5] आदि अनेक ग्रन्थ ऐसे है जिन्हे स्पष्ट रूप से जैन साधकों का रहस्यवादी काव्य स्वीकारा जा सकता है। अप्रकाशित साहित्य मे कितना और

---

1. डॉ० वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ० 74
2. प्रो० गुलाबराय, 'हि० सा० का सु० इति०, पृ० 7
3. डॉ० उपाध्ये, 'प्रवचनसार' अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० 22
4. डॉ० उपाध्ये, संपादित परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ० 67
5 डॉ० प्रेमसागर जैन, अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति-काव्य पर प्रभाव, पृ० 34

क्या-क्या उपलब्ध होगा यह शोध का विषय है। डॉ० प्रेम सागर जैन ने अपने एक लेख मे महचन्द कवि कृत 'दोहा पाहुड' और आनन्दतिलक की मुक्तक रचना 'आणदा' की हस्तलिखित प्रतियो के पाये जाने का उल्लेख किया है, जिन्हे डॉ० प्रेमसागर जी ने रहस्यवाद का उत्तम निदर्शन माना है। अस्तु उक्त रहस्यवादी काव्यो पर हम आगे प्रकाश डालेगे। यहां संक्षेप मे 'रहस्यवाद' के विषय में जान लेना भी अनिवार्य है।

वास्तव मे रहस्यवाद अनुभूतिपरक होने के कारण 'गूंगे केरी शर्करा' है। यही कारण है कि उसकी परिभाषा के विषय मे 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की उक्ति चरितार्थ होती है। आत्मा परमात्मा एक होते हुए भी भिन्न है यही तो रहस्य है। और इस भिन्नत्व मे एकत्व स्थापित करने की पद्धति ही रहस्यवाद है। इस पद्धति को एवालिन अण्डरह्विल ने प्रेम-पद्धति माना है। उनका कहना है कि रहस्यवाद पद्धति प्रेम-पद्धति है। यह छिछला राग अथवा सवेग नही, वरन् प्राणमयी धारा है। अन्तर्विरोधो में छिपा परमतत्व केवल प्रेम से ही प्राप्य है, न वह तर्क मे ज्ञेय है और न विचारगम्य है।[1] इसलिए शायद मुनि रामसिंह का कहना है, "मै सगुणी हू, प्रिय निर्गुण और निर्लक्षण है तथा दोनो के एक ही देह रूपी अग मे निवास करने पर अग मे अग नही मिल पाते—एकाकार नही हो पाते, आखिर क्यों?" यह क्यो का उत्तर ही तो रहस्यवाद है। प्रेमी प्रेमिका मे और प्रेमिका प्रेमी म मिलने को छटपटाती है, इसी प्रकार आत्मा परमात्मा मे मिलने को व्याकुल रहती है। कबीर भी 'हरि मोरा पीव मैं हरि की बहुरिया' कहकर ही हरि से अपना प्रेम अभिव्यक्त करते है।[2] परन्तु यह प्रेम साधना मार्ग का विशुद्ध प्रेम है इसमे लौकिक प्रेम अथवा वासनामय प्रेम को अवकाश नही। भारत मे साधना की दो प्रणालिया अनादिकाल से चली आ रही है। एक लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के साथ-साथ परमात्माभिमुख है, दूसरी लोकधर्म की चिन्ता छोडकर अन्तरात्माभिमुख है। अतएव दूसरी विधि गुह्य है जिसको रहस्यवाद से सम्बोधित किया जा सकता है।

रहस्यवाद का विषय इन्द्रियातीत है। यह सुनने मे अवश्य विलक्षण लगता है और प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि इन्द्रियातीत है तो अनुभव कैसे होता है? परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कुछ ऐसी बातें होती है, जो ज्ञातव्य होने पर भी इन्द्रिय का विषय नही होतीं। विद्वानों की मान्यता है कि चित्त बाह्य वस्तुओ के अतिरिक्त अपनी आन्तरिक वृत्तियो को भी जानता है। डॉ० सम्पूर्णानन्द का कहना है, "अपने सकल्प, अपनी इच्छाएं, अपने राग—चित्त इनको जानता है।

---

1. एवालिन अण्डरह्विल, 'मिस्टीसिज्म', पृ० 72
2. डॉ० रामकुमार वर्मा, 'कबीर का रहस्यवाद', पृ० 97

इनका ग्रहण किसी इन्द्रिय के द्वारा नही होता है।"[1] इन्द्रियातीत होने पर भी यह प्रत्यक्ष है अत: इसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होने पर जो ज्ञान होता है वह अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। परन्तु इन्द्रिय ज्ञान की भाति यह ज्ञान भी पूर्ण नही होता और न सम्पूर्ण ज्ञेय ही उसका विषय होता है। कभी-कभी साधको को यकायक उस विषय का उद्घाटन हो जाता है। संसार के रहस्य का एक रहस्यवादी के चित्त मे न्यूनाधिक ज्ञान स्फुरित होता रहता है, जिसमे कुछ जिज्ञासा छिपी रहती है।

मानव चेतना में उत्सुकता, विस्मय और जिज्ञासा की प्रवृत्तिया प्राकृतिक होती है। प्रारम्भ मे भारतीय प्रकृति की उपासना करते थे, वे प्राकृतिक शक्तियो इन्द्र-वरुण-अग्नि आदि के पूजक थे। परन्तु जिज्ञासु और विकासोन्मुख मानव को 'प्राकृतिक शक्तियो का भी कोई नियन्ता होना चाहिए' जानने की इच्छा हुई। इसीलिए सम्भवत वेद मे निम्न मन्त्र आता है—

'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्यजात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीद्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'

ऋग्वेद 10/121/1

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' इसी रहस्य को जानने की जिज्ञासा का प्रतीक है। वैदिक कालीन जनो ने प्रकृति के प्रकोपो से त्रस्त होकर उसके पीछे एक अदृश्य, अव्यक्त सत्ता की कल्पना की थी जो वैदिक ईश्वर की उत्पत्ति का मूल कारण माना गया।[2] अव्यक्त अगोचर सत्ता के प्रति जिज्ञासा की भावना ने विस्मय और कुतूहल दोनो को जन्म दिया।

किसी से अपरिचित रहने की अवस्थाओ में हमे उसकी अद्भुत क्रियाओ के प्रति एक विस्मय का भाव उत्पन्न होता रहता है, किन्तु जब उसका आभास होने लगता है तो कुतूहल की भावना जागृत होती है और तब साधक कह उठता है—

जइ केवइ पावीसु पिउ अकिया कुड्ड करीसु।
पाणिउ णवइ सरावि जिवं सव्वंगे पइसीसु॥

अर्थात् यदि किसी प्रकार मै अपने प्रिय को पा जाऊ तो अपूर्व कौतुक करू। नये सकोरे (मिट्टी का बर्तन) मे रखे हुए पानी के सदृश में उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊं।[3] इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होने के कारण उस ईश्वर का रूप ज्ञात ही नहीं अत:

1. डॉ० सम्पूर्णानन्द, 'चिद्विलास', पृ० 29, वि० स० 2001
2. डॉ० उपाध्ये, 'प्रवचनसार', भूमिका, पृ० 93
3. हेमचन्द्र, 'प्राकृत व्याकरण', 4/396 सूत्र

कबीर कहते हैं—

हलका कहूं तो बहु डरों, भारी कहों तो झूठ।
मैं का जानू राम को, नैना कबहुं न दीठ॥[1]

उस परोक्ष सत्ता के विस्मय और कुतूहल का अनुभव महादेवी वर्मा के शब्दों में भी देखिये—

शून्य नभ में उमड जब दुख-भार सी,
नैश तम मे सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगनुओं की पाति भी,
जब सुनहले आमुओ के तार-सी।
तब चमक जो लोचनो को मूदता,
तडित की मुस्कान में वह कौन है।[2]

यहा यह कौन का प्रश्न ही समाधान नही पाता। इसी अव्यक्त सत्ता के प्रति 'प्रसाद' भी कुतूहल मिश्रित जिज्ञासा रखते है—

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो, भार विचार न सह सकता॥[3]

इस कैसे और कौन का प्रश्न ही रहस्य की सृष्टि करता है तथा ईश्वर की अनन्त रमणीयता मे आत्मविभोर मानव के पास इतनी क्षमता कहां जो कौन और कैसे के प्रश्न का उत्तर दे सके। फिर भी वह परिज्ञान और प्रत्यक्षीकरण का प्रयत्न करता है। ईश्वर का स्वरूप जानने के लिए न जाने कब से प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु कोई प्रयत्न कारगर नही हुआ बल्कि ईश्वर का स्वरूप आवरित ही हुआ—

सब कहते है 'खोलो खोलो,
छवि देखूगा जीवन धन की'।
आवरण स्वयं बनते जाते,
है भीड़ लग रही दर्शन की।[4]

आवरण होने के कारण दर्शन नहीं हो सका परन्तु कुछ है, इसका आभास अवश्य मिल गया—

---

1. कबीर ग्रन्थावली, साखी 1, पृ० 17
2. महादेवी वर्मा, 'आधुनिक कवि' सातवां संस्करण, पृ० 31 गीत 19
3. जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी' आशा सर्ग, पृ० 34
4. वही, काम सर्ग

हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो, ऐसा होता भान।
मंद गंभीर वीर स्वर संयुत,
यही कर रहा सागर गान।[1]

विश्वदेव का भान होते ही दर्शन अथवा प्रत्यक्षीकरण के लिए आत्मा व्याकुल हो उठती है। मुनि रामसिंह इस विषय में उपदेश देते है, 'देह रूपी देवालय मे जो शक्तियो सहित देव वास करता है, हे जोगी, वह शक्तिमान् शिव कौन है ? इस भेद को शीघ्र खोज।'

देहा देवल्नि जो बसइ सत्तिहि सहियउ देउ।
को तहि जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ॥[2]

इसी को विद्यापति अपने ढग से कहते है—

कौन वन वसथि महेस, केओ नहि कहथि उदेस।

अर्थात्—महेश (ब्रह्म) किस वन मे रहता है, उसका पता कोई नही देता। इस वाक्य मे दर्शन की उत्कट अभिलाषा है। कबीर भी—'कब रे मिलोगे राम' कह कर दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करते है। परन्तु विडम्बना तो इस बात की है कि 'अगहि अग बसतयह मिलउ न अगहि अग' हा, साधक को उसका अनुभव अवश्य होता है।

प्रत्यक्षीकरण के प्रयत्न काल मे ही साधक व्यक्ति सत्ता के सम्बन्ध मे ईश्वरीय सत्ता की अनेक धारणाएं बना लेता है। साधक को सर्वत्र उसी पारब्रह्म परमेश्वर की लीला दिखाई देती है। कभी वह उसी मे विलीन होता दिखाई देता है—

लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल।
लाली देखन मै गई मै भी हो गई लाल ॥ कबीर ॥

कभी प्रभु स्वामी बनकर रक्षा करने आता है तो कभी वह माता-पिता रूप में दिखाई पड़ता है। साधक स्वय को जीव और परमेश्वर को ब्रह्म की संज्ञा देता है। जीव ससीम और ब्रह्म असीम। एक स्थिति ऐसी आती है जब ससीम असीम मे मिलकर एकाकार हो जाता है। जीवात्मा सबमे ब्रह्म के अंश के रूप में विद्यमान है। अणु मात्र में ब्रह्म ही समाया हुआ है, 'सर्व सत्विद ब्रह्म'।[3]

---

1. जयशंकर प्रसाद, 'कामायनी' आशा सर्ग
2. डॉ० हीरालाल जैन द्वारा सपादित 'पाहुड दोहा' दो० सं० 53
3 छान्दोग्य उपनिषद् 3-14

इस प्रकार के ब्रह्म की सत्ता पुद्गल (मेटर) के रूप में भी स्वीकार की गई। पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि पुद्गल के अंतर्गत आते है। जैनेतर दर्शनों में ये सब भिन्न जातीय माने गए है। पचतत्त्वो के मेल से जीव की सृष्टि होती है। यह भी ईश्वराधीन है। ब्रह्म के लिए 'निरंजन' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। भारतीय दार्शनिक एवं योगपरक साहित्य मे 'निरंजन' शब्द अनेक बार आया है। शैव सम्प्रदाय की दार्शनिक शब्दावली मे 'निरंजन' शब्द का प्रयोग 'मायाविशिष्ट अशरीरी जीव' के लिए किया गया मिलता है।[1] कबीर ने निरजन को 'सार' तत्त्व माना है।[2] वे उसे अनिर्वचनीय और अनादि मानते है।[3]

प्रकृति पुरुष के विषय की धारणाए भी दृढ़ हुई। सांख्यो ने प्रकृति को सक्रिय और पुरुष को उसका अनुगामी माना। किन्ही ने प्रकृति को ईश्वर से भिन्न स्वीकार किया है। पुरुष और प्रकृति के फलस्वरूप व्यक्त जगत् की सृष्टि होती है। पुरुष केवल भोक्तृ भाव से प्रकृति से रमण करता है—

त्रिगुणमविवेकि विषय. सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।
व्यक्त तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥[4]

पुरुष का प्रकृति के साथ सयोग अध-पगु न्याय से है। पुरुष कर्त्ता होते हुए भी उदासीन ही है।

अब देखना यह है कि जैन धर्म (दर्शन) मे इसके तत्त्व कहां और किस रूप मे मिलते है? जैन धर्म मे 'निवृत्ति' को प्रधानता दी गई है। यदि 'नास्तिको वेद निन्दक' की परिभाषा से जैन धर्म को मुक्त रखा जाय तो ऐसा कोई कारण नहीं कि वह एक आस्तिक धर्म की श्रेणी मे न आता हो। जैन दर्शन मे आत्मा और परमात्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है परन्तु परमात्मा को कर्त्ता के रूप मे नहीं माना है। सृष्टि अनादिकालीन है। प्रत्येक आत्मा विशुद्ध परिणाम होने से परमात्मपद प्राप्त करता है अतः ब्रह्म मे विलीन होने का वहां प्रश्न ही नहीं उठता।[5] ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी को परमात्मा का पर्यायवाची माना गया है—

सो सिउ-सकरू विण्हु सो, सो रूद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरू बंभु सो, सो-अणंतु सो सिद्धु॥[6]

---

1. 'कबीर-साहित्य की परख', पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 245
2. कबीर-ग्रन्थावली, पद 337, पृ० 202
3. वही, पद 219, पृ० 162
4. साङ्ख्यकारिका, का० सं० 11
5. डॉ० ए० एन० उपाध्ये, परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृ० 35
6. डॉ० उपाध्ये, सं० योगसार, पृ० 394, दोहा 105

अर्थात् शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिन, ब्रह्मादि सभी एक ही है। परन्तु आत्मा से परमात्मा बनने के लिए घोर साधना की आवश्यकता होती है। चूकि आत्मा अनेक कर्मों में फंसे होने के कारण ससार भ्रमण करता है अत उन कर्मों को साधना द्वारा क्षय करके परमपद प्राप्त किया जा सकता है। जैन दर्शन मे सात प्रमुख सत्त्व माने गए हैं—'जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्'-जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।[1] जैन साधक साधना द्वारा प्रथम आश्रव अर्थात् कर्मों के आगमन द्वार को बन्द कर कर्मों का सवर (रोकना) कर देता है है तदुपरांत पूर्व सचित कर्मों की निर्जरा (क्षय) करता है, तब उसकी आत्मा निर्मल दर्पण की भांति होती है और वह परमपद मोक्ष का अधिकारी होता है। मोक्षमार्ग सम्यक् दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चरित्र के पूर्ण होने पर सुलभ होता है, यही मोक्षमार्ग है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः।'[2]

आत्मा से परमात्मा तक पहुचने का रहस्य साधना पद्धति में निहित है। इस रहस्यवाद के तत्त्व हम जैन धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव मे पाते है जिसको प्रो० रानाडे ने निम्न प्रकार स्वीकार किया है—

ऋषभदेव जिनका वर्णन भागवत मे आता है, वे एक भिन्न प्रकार के रहस्यवादी थे जो कि परमात्मा को पहचानने के लिए अपने शरीर के प्रति लापरवाह थे। हम उनके विषय मे भागवत मे पढ़ते है कि उन्होने किस प्रकार अपना राज्य अपने पुत्र भरत को सौपकर एक साधनामय जीवन बिताने का निश्चय किया। वे एक बहरे, गूगे और अंधो जैसा जीवन व्यतीत करते थे, उन्हे नगर, गाव आदि से कोई मतलब नही था। उन्हे इस बात की भी परवाह नही थी कि लोगों की उनके प्रति कैसी धारणा है, यहा तक कि लोग उनके ऊपर पत्थर फेंकते थे, अपमानित करते थे। इन सबके होते हुए भी उनका मुख आभा से युक्त और मुस्कानमय रहता था। उन्हे अपने शरीर तक से मोह नही था''।[3] प्रश्न हो सकता है कि क्या यही ऋषभदेव जैन धर्म के आदि प्रवर्तक थे? अनेक प्रमाणो से सिद्ध होता है कि इन्ही ऋषभदेव का वर्णन प्राचीन ग्रन्थो मे भी मिलता है। भागवत पुराण मे ऋषभदेव के अवतार के विषय में लिखा है—स्वय विष्णु भगवान मरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।[4] इस ऋषभावतार का हेतु भी

1. तत्वार्थ सूत्र, सं० पन्नालाल धर्मालंकार सू० 1/4
2. वही 1/1
3. प्रो० रानाडे 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 9
4. भागवत पुराण 5, 3, 20

वही दिया है—

'अयभवतारो रजसोपप्लुत-कैवल्योपशिक्षणार्थ.' अर्थात् यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगो को कैवल्य की शिक्षा देने के लिए हुआ । जैन मुनियो के आचार-सहिता मे रजोधारण सयम के अतर्गत माना गया है अतः इसका सम्बन्ध सीधा जुड़ जाता है । श्रमण परम्परा भारतीय संस्कृति की वैदिक कालीन परम्परा है । वातरशना मुनियो के विषय में वेद की दो ऋचाएं देखिए—

मुनयो वातरशना. पिशंगा बसते मता ।
वातस्यानु ध्राजियन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।
उन्मदिता मौनेयेन वाता आतस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माक यूय मतासो अभि पश्यथ ।।[1]

इन ऋचाओ के साथ ही 'केशी' की स्तुति की गई है—

केश्यग्नि केशी विष केशी विमर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वदश केशीवं ज्योतिरुच्यते ।।

अर्थात् केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है । केशी समस्त विश्व के तत्त्वो का दर्शन करता है । केशी प्रकाशमान ज्योति कहलाता है ।[2] जैन पुराणो मे ऋषभदेव के 'केशी' होने के प्रमाण मिलते हैं—'वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः' पद्मपुराण मे कहा गया है ।[3] इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि ऋग्वेद के 'वातरशना मुनि' और भागवत के 'वातरशना श्रमण मुनि' एक ही सम्प्रदाय के है। वातरशना शब्द से नाग्न्य वृत्ति का सहज ही पता चल जाता है । ऋषभदेव के विषय मे भागवत पुराण का एक उद्धरण देखने से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है—

उर्वरित-शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त एव गगन-परिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्मारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रधव्राज । जडान्धमूक-मूक-बधिर पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेशो अभिभाष्यमाणी पि जनाना गृहीतमौनव्रतः तूष्णी बभूव···।

अर्थात् ऋषभ भगवान के शरीर मात्र परिग्रह शेष था । वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेश में, बिखरे हुए केशों सहित आह्वनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए । वे जड़, अन्ध, मूक, बधिर, पिशाचोन्माद-युक्त जैसे अवधूत वेश में लोगो के बुलाने पर भी मौन वृत्ति धारण किए हुए चुप

1. ऋग्वेद 10, 136, 2-3
2. वही 10, 136, 1
3. पद्मपुराण 3, 288

रहते थे···।[1] क्या इसे हठयोग नहीं कहा जा सकता ? यदि यह हठयोग के अन्तर्गत आता है तथा जैनधर्म के आदि प्रवर्त्तक यही उक्त ऋषभनाथ हैं तो जैनों का रहस्य-वाद भी यही से स्वीकार करने मे कोई हिचक क्यों ? ई० प्रथम शताब्दी मे आचार्य कुन्दकुन्द का 'भावपाहुड़' नामक जैन धर्म का आध्यात्मिक ग्रंथ मिलता है, उसमें भी रहस्यवाद सम्बन्धी अनेक तथ्य मिलते है। परन्तु जैसा कि प्रो० आर० डी० रानाडे ने ऋषभदेव के रहस्यवाद को एक भिन्न प्रकार का रहस्यवाद स्वीकार किया ठीक वैसे ही 'भावपाहुड़' के विषय मे भी समझना चाहिए। अब विस्तार में न जाकर हमे देखना है कि अपभ्रंश काव्य मे इसकी प्रथम अभिव्यक्ति कब और कहा हुई ?

जैन अपभ्रंश साहित्य में जोइन्दु का परमात्मप्रकाश और योगसार[2] तथा मुनि रामसिह का पाहुड़ दोहा[3] रहस्यवादी ढग के दोहो वाले काव्य है, जिनमे बताया गया है कि परमात्मा बाह्य पदार्थों में नही है अपितु अपने देह रूपी मंदिर मे ही आत्मा के रूप में विद्यमान है तथा वह बाह्याचारो से प्राप्त नही किया जा सकता। जब तक आत्मा मे कर्मो का आवरण नही हटता वह भटकता ही रहेगा आदि···। प्राप्य सामग्री के आधार पर जोइन्दु का समय (जिसका विशद विवेचन आगे किया गया है,) उक्त काव्यों मे प्रथम ठहरता है। डॉ० उपाध्ये ने विभिन्न मतो मे निष्कर्ष निकालते हुए इनका समय ई० की छठी शताब्दी माना है।[4] अतएव इस आधार पर रहस्यवाद की जैन अपभ्रंश काव्य मे प्रथम अभिव्यक्ति छठी शताब्दी मे मानी जा सकती है। जोइन्दु का परमात्मा ज्ञानस्वरूप, नित्य और निरंजन है। वे कहते है - परमात्मा देह से भिन्न है किन्तु इसी देह मे स्थित है। परमसमाधि में स्थित जो इस प्रकार आत्मा और शरीर में भेद करता है वह पंडित है।

देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परम समाहि परिट्ठियउ पडिउ सो जि हवेइ ॥[5]

जोइन्दु ने आत्मा का विकसित रूप ही परमात्मा माना तथा आत्मा को, व्यवहार से मोक्ष मार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रादि से स्वभावतः पूर्ण माना। यथा—

1. भागवत् पुराण 5, 6, 28-39
2. प्रका० सन् 1937, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये
3. प्र० कारंजा सीरीज, ई० 1933, सं० डॉ० हीरालाल जैन
4. डॉ० उपाध्ये, परमात्म प्रकाश की प्रस्तावना, पृ० 67
5. वही, 1/14

अप्पा दंसण णाण मुणि,
अप्पा चरण वियाणि।
अप्पा संजमु सीलतउ,
अप्पा पच्चक्खाणि ॥[1]

परन्तु उन्होंने बाह्याचारों का घोर विरोध किया और बताया कि वह आत्मतत्त्व न देवालय में है, न शिला में, न लेपन मे और न चित्र में है। अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय शिव सम चित्त में है।

देव ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥[2]

सिद्धि के मार्ग के विषय मे जोइन्दु कहते हैं—

सिद्धहि केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।
जो तसु भावह मुणि चलइ सो किम होइ विमुक्कु ॥

अर्थात् मुक्ति का मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, जो मुनि उस शुद्ध भाव से डिग जाते है उन्हें मोक्ष नही हो सकता।[3] इस प्रकार के अनेक दोहे परमात्मप्रकाश और योगसार में मिलते है। यही कारण है कि जोइन्दु का महत्त्व जैन साहित्य मे ही नही अपभ्रंश साहित्य मे प्रमुख माने जाने योग्य है। इनकी रचनाओं को साम्प्रदायिक नही ठहराया जा सकता। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते है—जोइन्दु के इस दोहे पर से यदि 'जैन' विशेषण हटा दिया जाये तो ऐसा लगेगा कि यह किसी नाथ सिद्ध या निर्गुण मार्गी भक्त की रचना है। उदाहरणार्थ—

देव न देवले नहु सिलए नहु चंदणि नहु चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाण घणुं सिउ संठिउ समचित्ति ॥[4]

जिन सस्कृत-प्राकृत भाषाओं का प्रयोग उच्चकोटि के ग्रंथों में होता था उन्हें छोड़कर जोइन्दु ने तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा अपभ्रंश को अपने काव्यों की भाषा बनाकर एक नया कदम उठाया था। इस कारण जोइन्दु के महत्त्व में वृद्धि होती है। महाराष्ट्र और कर्नाटक के बाद के रहस्यवादियों ने भी इसी प्रकार लिखा है।

1. डॉ० उपाध्ये, योगसार, दो० 81
2. वही, परमात्मप्रकाश 1/123
3. वही, 2/69
4. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य' हिन्दी विभाग, पंजाब वि. वि. की वार्षिक लेखक गोष्ठी 1961-62 में पढ़ा गया निबन्ध।

हिन्दी के निर्गुण संत काव्य पर सिद्ध एवं नाथ साहित्य का प्रभाव माना जाता रहा है। निर्गुण संत परम्परा में कबीर का स्थान मुख्य रहा है अतः यहां हम उन्हीं की चर्चा करेंगे। डॉ० बड़थ्वाल ने कबीर को नाथ पंथियो से अधिक प्रभावित माना है। उनका मत है कि कबीर ने नाथपंथियों की केवल शब्दावली तक ही नहीं अपनाई अपितु उनके काव्य मे से भी बहुत कुछ ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया।[1] इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानो ने भी उक्त तथ्य स्वीकार किये है। परंतु यह हमें नही भूलना चाहिए कि जैन अपभ्रंश रहस्यवादी काव्य की हिन्दी निर्गुण संत काव्यः को एक महत्त्वपूर्ण देन है। यदि हम कबीर के पूर्ववर्ती जैन मुनियों के काव्य के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करें, जिनको कि कबीर ने कही पर उसी रूप मे और कही उससे कुछ भिन्न रूप मे स्वीकार किया है, तो बात स्पष्ट हो जायगी। यहा कुछ तुलनात्मक उद्धरण दिए जाते है—

जैन मुनि रामसिंह का एक दोहा इस प्रकार है—

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु।
णियदेहांह वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु॥

अर्थात् जिन कहते है वंदना करो। वंदना करो। किन्तु यदि अपने देह में बसने वाले का परमार्थ जान लिया तो यहां किसकी वंदना करना शेष रहा ?[2] अब इसी का रूप कबीर में देखिए—

मेरा मन सुमिरे राम कू, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावो काहि॥[3]

एक अन्य उदाहरण देखिए—

मुडिय मुडिय मुंडिया। सिरु मुडिउ चित्तु ण मुडिया।
चित्तहं मुडणु जि कियउ। ससारह खंडणु ति कियउ॥

अर्थात् अरे सिर मुंडाने वालों के सरदार। तूने सिर तो मुंडा लिया किंतु अपने चित्त को नहीं मूडा। जिस किसी ने चित्त को मूड़ा उसने ससार का भी खण्डन किया।[4] इस पद्य में जो संकेत है उसी को कबीर ने दूसरे ढंग से कहा है—

केसों कहा बिगाड़िया, जे मूडे सौ बार।
मन को कहा न मूड़िए, जामे विषै विकार॥

---

1. पं० परशुराम चतुर्वेदी, 'कबीर-साहित्य की परख' से उद्धृत।
2. पाहुड़ दोहा (कारंजा सीरीज), दोहा 41
3. कबीर ग्रंथावली (का० ना० प्र० स०), साखी 8
4. पाहुड़ दोहा, दो० 135

अर्थात् तुम्हारे सिर के बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो उन्हें सैकड़ों बार मुड़वाते रहते हो। अपने मन को क्यों नही मूंड़ते, जिसमें कि अनेक विकार भरे हुए हैं।[1] इस प्रकार यदि मिलान किया जाय तो ऐसे अनेक दोहे मिल जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि जैन मुनियों के साहित्य का प्रभाव कबीर आदि निर्गुण संतों पर पड़ा था। इसकी स्वीकृति पं० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में देखिए, "कबीर साहब के ऊपर नाथपंथी जोगियो के साहित्य एवं बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों की रचनाओं तक का प्रभाव सिद्ध किया जा सकता है।"[2] इन निर्गुण संत काव्यों के अतिरिक्त उक्त अपभ्रंश की रचनाओं का प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी जैन भक्त भैया भगवतीदास, बनारसीदास, दौलतराम आदि कवियों पर भी पड़ा। इनकी मुक्तक रचनाओ मे रहस्यवाद का पुट झलकता है जिनका वर्णन अग्रिम अध्याय में किया गया है। अतः यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी को जैन अपभ्रंश रहस्यवादी काव्यों की महत्त्वपूर्ण देन है।

1. कबीर ग्रंथावली, साखी 12
2. कबीर-साहित्य की परख, पृ० 216

जैन रहस्यवादी काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति और साहित्य का प्राचीनतम स्रोत वैदिक साहित्य माना जाता है। जैन परम्परावादी जैनधर्म की प्राचीनता अनादिकालीन मानते है। यद्यपि इतिहास इस विषय में मौन है तथापि जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के विषय में ऋग्वेद और महाभारत जैसे प्रामाणिक ग्रथो में पर्याप्त सामग्री मिलती है जिसका उल्लेख डा० राधाकृष्णन आदि विद्वानो ने भी किया है।[1] एक बार को यदि प्राचीन एवं अर्वाचीन की बात को जाने दे तब भी चूकि जैन सस्कृति भी भारतीय संस्कृति है अतएव उसे भारतीय संस्कृति की तुला पर तौलना होगा।

भारतीय प्रवृत्ति अध्यात्मपरक रही है। वैदिक युग से ही उक्त भावना के प्रमाण मिलते हैं। प्राकृतिक वस्तुओ मे दैवी भावना का आरोप कर उन्हे पूज्य-भाव से देखा जाता था। वेदों मे परमात्मा को हिरण्यगर्भ-भूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश) अथवा पुरोहितो की संज्ञा दी गई है।[2] इससे सिद्ध होता है कि वेद में सर्वप्रथम अरूप मे रूप की कल्पना की गई। उपनिषद् अग्निविद्या, मधु-विद्या, प्राणोपासना इत्यादि मे उस अतीन्द्रिय ग्राह्य को इन्द्रियग्राह्य बनाने की चेष्टा करते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पता चलता है कि परमात्मा की निराकारता को खंडित किए बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य-भावना की मूल है।[3]

रहस्यवाद का वास्तविक रूप औपनिषदिक साहित्य मे मिलता है। उपनिषदों में विश्वात्मक सत्ता को एक माना गया है। संसार की समस्त आत्माएं

---

1. डॉ० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग 1, पृ० 387 और जैन-साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका), पृ० 107-129, लेखक पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री
2. ऋग्वेद 10-121-1
3. डॉ० प्रेमनारायण, 'हिन्दी साहित्य में विविधवाद', पृ० 428

ब्रह्म में लीन होती हैं और सभी में ब्रह्म का ही अंश विद्यमान है, कहा भी है, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" । उस सत्ता के विषय में ईशोपनिषद् में कहा गया है, "वह सत्ता पूर्ण है, उसका समस्त कार्य पूर्ण है और इस दूसरे पूर्ण के उसमें लीन हो जाने पर पुनः वही पूर्ण रह जाता है, अतः जगत में जो कुछ भी स्थावर जंगम के रूप में विद्यमान है वह सब उसका निवास स्वरूप है, इस कारण तू सदा अनासक्त भाव होता हुआ अपना जीवन-यापन कर और किसी की सम्पत्ति की ओर मत देख ।"[1]

उक्त उपनिषद् के कथन से विश्वात्मक सत्ता की एकता द्वारा रहस्यवाद की भावना, रहस्यानुभूति तथा उसके आचरण के विषय में ज्ञात हो जाता है। रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त कैसे किया जा सकता है ? उसकी अनिर्वचनीयता का प्रश्न है, उस विषय मे हम कठोपनिषद् के एक मंत्र की ओर ध्यानाकृष्ट कर सकते है, "वह वाणी, मन अथवा चक्षु द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, उसके लिए केवल 'अस्ति' कहने के अतिरिक्त हम क्या कह सकते हैं ? तथा उसे अन्यत्र उपलब्ध भी कैसे कर सकते हैं ।"[2] प्रो० रानाडे ने औपनिषदिक रहस्यवाद और मध्यकालीन रहस्यवाद की तुलना करते हुए लिखा है कि औपनिषदिक पराकोटि का दर्शन रहस्यवादी था। औपनिषदिक रहस्यवाद मध्ययुगीन रहस्यवाद से भिन्न था। औपनिषदिक रहस्यवाद अकृत्रिम दार्शनिक रहस्यवाद था, मध्यकालीन रहस्यवाद प्रायोगिक एवं धार्मिक रहस्यवाद था । औपनिषदिक रहस्यवाद विलक्षण कल्पना शक्तियो, प्रकृति के सत्य के विषय में साहसिक रचनाओ से अलग या असंगत नहीं था, परन्तु मध्ययुगीन रहस्यवाद दार्शनिक व्याख्याओं अथवा दार्शनिक कल्पनाओ से घृणा करता था और उन्हें व्यर्थ समझता था। औपनिषदिक रहस्यवाद व्यक्तियों के कोलाहल से दूर आश्रमों में रहने वाले मनुष्यों का रहस्यवाद था या उनका रहस्यवाद जिन्हें कि उनकी अनुमति प्राप्त थी। मध्ययुगीन रहस्य-वाद वह रहस्यवाद था जो कि अपने को मानवता के उच्च शिखर में आसक्त करता था और जो एक पूर्ण सत्ता से मिलन की नींव थी। सारांश यह है कि, "जैसे ही हम औपनिषदिक रहस्यवाद से मध्ययुगीन रहस्यवाद का मार्ग तय करते हैं, हमें ऐसा लगता है कि आत्मिक जीवन को छिपे हुए आश्रमिक जीवन से लाकर खुले बाजार में रख दिया है ।"[3]

इस प्रकार हमने देखा कि उपनिषद् काल की रहस्यानुभूति दार्शनिक और नीरस ढंग की थी । यही कारण था कि इसमें बौद्धिक और अनासक्ति की बात अधिक थी जिसका प्रभाव गीता के अर्जुन पर भी पड़ा । वे युद्धभूमि से भाग खड़े

---

1. ईशोपनिषद् 1/15-16
2. कठोपनिषद् 2/12/व० 6
3. प्रो० रानाडे, 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र', पृ० 1-2

हुए। भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्म करने की प्रेरणा दी और उतना ही मनुष्य का अधिकार बताया, फल की इच्छा व्यक्ति को नहीं करनी चाहिए, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। कर्म-त्याग को कृष्ण भगवान् ने निषेध कर बार-बार कर्म करने की प्रेरणा दी है, यहां तक कि कर्म को योग तक कहा है—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगःकर्मसु कौशलम्।[1]

औपनिषदिक साधना पद्धति के विपरीत गीता में भगवान कृष्ण कहते है कि सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ और मैं तुम्हें सब पापों से छुटकारा दिलाऊंगा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[2]

यह मार्ग रहस्य का था पर हमारे यहां इसे वेद विरोधी समझा गया यद्यपि गन्तव्य दोनों का एक ही था। साधकों के लिए गीता वाला मार्ग सुगम था। इसका कारण था कि यह सरस मार्ग था, इसमें प्रभु से मिलने का कोई विशेष वेश नहीं था, जो जिस रूप में भक्ति करना चाहे, कर सकता था—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"[3]

(संभवतः यही कारण है कि औपनिषदिक रहस्यवाद बौद्धिक लोगों को ही आकृष्ट कर सका और इसके विपरीत गीता के रहस्यवाद ने उन लोगों को भी आकृष्ट किया जो वहां तक नहीं पहुंच सकते थे।) इतना होने पर भी लोकमर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने पुरातन काल के मार्ग का ही उपदेश दिया। इस विषय में वे स्वयं कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ब्रवीत् ॥[4]

अर्थात् सदा सफल होने वाला यह योग मैंने विवस्वान (सूर्य को) बताया था, उसने अपने पुत्र मनु को बताया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया। आगे कहा है—

1. गीता, 2/50
2. वही, 18/66
3. वही, 4/11
4. वही, 4/1

स एवायं मया ते द्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तो सि मे सखा चेति रहस्यं ह्ययेतदुत्तमम्॥

"यह वही प्राचीन योग है। तुम मेरे भक्त हो, मित्र हो, इसलिए आज मैंने तुमको बताया चूंकि यह रहस्य उत्तम है।"[1] इस प्रकार देखा जाए तो गीता का रहस्यवाद औपनिषदिक रहस्यवाद से भिन्नता लिए हुए अवश्य है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आधार स्वतन्त्र है। मध्यकालीन रहस्यवाद अपने ही आधार पर खड़ा है और उसके उत्थान में किसी भी दार्शनिक निर्देशन का हाथ नही है।[2] आगे संक्षेप में हम रहस्यवाद की परिभाषाओं पर विचार करना उपयुक्त समझते है—

जेम्स हेस्टिंग्स के अनुसार रहस्यवाद शब्द सामान्यतया दो प्रकार के विचारों को अन्तर्भूत करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम, परमात्मा के साथ प्रत्यक्ष संयोग का स्वयं अनुभव (फस्ट हेंड एक्सपीरियेंस), द्वितीय परमात्मा अथवा ईश्वर के साथ आत्मा के संभव एकात्म का तत्त्व वैज्ञानिक (थियोलोजिक-मेटाफिजिकल) सिद्धान्त। इनमें से द्वितीय विचार के लिए रहस्यवाद को सीमित रूप मे प्रयुक्त करना अधिक अच्छा है। इसी प्रकार ईश्वर के साथ आत्मा के एकात्म प्रत्यक्षानुभव के लिए रहस्यानुभव (मिस्टीकल एक्सपीरियेंस) शब्द को सीमित रूप में प्रयुक्त करना अधिक उचित है। इस अवस्था मे विषयी और विषय (सब्जेक्ट एण्ड आवजेक्ट) दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से मिश्रित रहते हैं। इन क्षणो में जो कुछ भी देखा, सुना अथवा अनुभव किया जाता है, वह आन्तरिक जीवन (इनरलाइफ) के आवेगमय प्रवाह से भरपूर रहता है। अत्यधिक गभीरता मे छिपी रहने वाली व्यक्ति की शक्तियां जो सामान्यतया क्रियाशील नहीं रहतीं, अकस्मात मुक्त हो जाती हैं। सर्वातीत शक्तियां (ट्रान्सेन्डेट-इंचार्ज) जीवात्मा को विजित (इनवेड) करती प्रतीत होती है। जे० ए० स्टुअर्ट ने इन्हें सर्वातीत चेतना (ट्रान्सेन्डेट कांशसनेस) कहा है। यह विभिन्न रूपों, मार्गों, गहराइयों में प्रकट होती हैं। सौन्दर्य अथवा विराट का अत्युच्च साक्षात्कार, संगीत में विलीन आनंदानुभव प्रकृति के साथ परम शांत सौख्य, किसी सत्य के अर्थ में अकस्मात अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति, प्रेमोदय, कर्त्तव्यानुसरण, जीवन का नैतिक उत्थान आदि कुछ इस प्रकार की अनुभूतिया हैं जो असीम अनुभूतियां हैं जिनमें विषयी और विषय दोनों ही एक दूसरे में अभिन्न हो जाती हैं।[3]

दूसरी ओर रहस्यवाद परमात्मा से एकात्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त

1. गीता, 4/3
2. प्रो० रानाडे, 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र', पृ० 3
3. एन्साइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भाग 9, पृ० 83-84

में परमात्मा और जीवात्मा का एक तत्त्व वैज्ञानिक (मेटाफिजिकल) स्वरूप भी ग्रहीत है। इससे एक उस रहस्यमय मार्ग का भी संकेत होता है जिससे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के साथ एकात्म प्राप्त किया जा सकता है। इस परमात्मा के स्वरूप की जो कल्पना की गई है उससे वह पूर्ण तत्त्व (एब्सोल्यूट रियलिटी), शुद्ध सत्व (प्योर बीग), पूर्ण रूप (परफेक्ट फार्म), भूतत्वों के मिश्रणो से सर्वथा मुक्त, एक, नित्य (परमानेन्ट), स्थिर (इम्युटेबल), अपरिवर्तनशील, मन की परिवर्तनशील वस्तुओ में अनुपलभ्य, देशकाल से मुक्त, नाम रूप-ज्ञेय-दृश्य आदि सभी से अतीत माना गया है।[1] इस आत्मा मे भी कुछ ऐसे तत्त्व है जो उस पूर्ण ब्रह्म से तत्त्वतः अभिन्न है जिसे प्रायः चेतना का आधार (ग्राउन्ड आव कांशसनेस), दिव्य स्फुलिग (डिवाइन स्पार्क), ईश्वरवाणी (वायस ऑफ गॉड), अन्तर्दृष्टि (इनर साइट) आदि कहा जाता है। यही पूर्ण सत्य के वास्तविक ज्ञान का स्रोत है। वैश्विक स्तर के समस्त विचारो का भी यही स्रोत है। जब आत्मा अपने इस गभीरतम स्रोत मे अवगाहन करती है तो वह उस सत्ता से एकात्म प्राप्त कर लेती है, ज्ञेय से अभिन्न हो जाती है।[2] तत्वज्ञान की यही अन्तर्धारा ऐतिहासिक रहस्यवाद मे परिलक्षित होती है। इसने आवश्यकतावश ही एक अभावात्मक पद्धति को स्वीकार किया है। इसके अनुसार पूर्ण ब्रह्मतत्त्व (एब्सोल्यूट रियलिटी) ईश्वर, जिससे आत्मा एकात्म प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती है स्थूल, ससीम से सर्वोपरि और सर्वातीत है। किसी ससीम गुण अथवा विशेषण (फाइनाइट क्वालिटीज आर करैक्टरेस्टिक्स) का उसके ऊपर आरोप करना उसको भी सीमित करना है। उसकी पूर्णता और असीमता का पूरा अनुभव हम तभी कर सकते हैं जब उसके सभी विवरणो से सभी ससीमों को तिरस्कृत कर दे। वह 'यह' नही है, वह 'वह' नहीं है। उसके साथ एकात्म में आत्मा आनन्द के लक्ष्य को प्राप्त करेगी। तब यह आत्मा भी सभी अवस्थाओ, क्रियाओं, संवेगो (इमोशंस), विचारो (थाट्स), एषणाओं (एस्पिरेशंस) और महत्त्कार्यों (डीड्स) से ऊपर हो जाएगी अथवा अतीत हो जाएगी। उस निःशब्द सयोग (वर्डलैस कम्यूनियन) मे सभी प्रकार के विचारों, प्रतिमाओ (इमेजिज) या स्थितियो से अतीय होने वाली चेतनाओं में, जीवात्म केन्द्र परमपूर्ण ब्रह्मतत्त्व के सम्मिलन को, 'एकाकी का एकाकी की ओर अभ्युत्थान' प्राप्त करेगी।[3]

रहस्यवाद शब्द किसी एक विशेष मतवाद (सिस्टम) के लिए ही प्रयुक्त नही होता। यह विभिन्न विचारसरणियों (मोड्स ऑफ थाट) और भावनाओं

---

1. एन्साइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भाग 1, पृ० 84
2. वही
3. वही

के विकास के लिए भी हो सकता है। प्रायः ऐतिहासिक रूप एक उस विशेष मत-विश्वास के लिए भी प्रयुक्त होता है जो स्थूल के विरुद्ध चेतना की प्रतिक्रिया में प्रकट होता है। जब कोई धर्म कुछ बंधे हुए सिद्धान्तों, व्रतों-आचारों आदि में संकुचित हो जाता है। जो लोग 'हृदय के धर्म' के नाम पर उसका विरोध करते हैं वे प्रायः रहस्यवादी कहे जाते हैं। समय आने पर वे पुन. व्यक्ति के चिरोज्जीवित धार्मिक अनुभवों के तथ्यों को प्रमुखता प्रदान करते हैं और फिर बाद में रहस्यवाद कुछ निश्चित सिद्धान्तों (डाग्माज) के रूप में विकसित होता है। विश्व के सभी उच्चतर धर्मों से रहस्यवाद विभिन्न रूपो मे प्रकट होता है। इसकी विलक्षण विशेषताएं भारत एवं फारस के धर्मों के साथ ही समान रूप से इस्लाम मत में भी दिखाई पड़ती हैं।[1]

रहस्यवाद शब्द से कभी-कभी चिन्तनात्मक रहस्यवाद का भी अर्थ लिया जाता है। इस रूप मे रहस्यवाद वह तत्त्वज्ञानात्म सिद्धान्त है जो परम देवता (गॉड हेड) की सूक्ष्म एकता तथा उसमें जीवात्माओं के अहभाव ससीम वस्तुओं के अभाव की घोषणा करता है। इसी प्रकार कुछ ऐसी विशेषताएं भी हैं जो रहस्यवादी को अन्य व्यक्तियों से विलक्षण स्पष्ट कर देती हैं। 'वेनेट' के अनुसार रहस्यवादी कोई रोगी (पैथोलोजिकलकेस) नहीं। क्योंकि रोगी अपनी शारीरिक मानसिक पीड़ाओं से आक्रान्त रहता है, जबकि रहस्यवादी कुछ हद तक इन सबका स्वामी होता है। इसी प्रकार हिस्टीरिया के रोगी से भी रहस्यवादी की तुलना नही की जा सकती।[2] रहस्यवादी की उपलब्धि की प्रक्रिया भी यद्यपि अस्वाभाविक नहीं होती तथापि कठिन और असामान्य अवश्य होती है। इसमें मनुष्य की सामान्य इच्छाशक्ति की कठोर परावृत्ति (परावर्तन) रिवसंल आवश्यक है। रहस्यवादी प्रत्येक वैसी वस्तुओं से विमुख हो जाता है जिन्हें हम संस्कृति और सभ्यता शब्द के अन्तर्गत ग्रहण करते है। वे सांसारिक जीवन की सम्पूर्ण वस्तु व्यवस्था का परित्याग कर देते हैं जिन्हें मनुष्य ने स्थिर निवास के लिए आविष्कृत किया है, जिन पर परिश्रम किया है। वे अपनी क्रियाशीलता के लिए इनके स्थान पर आध्यात्मिक आनंद को स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि इस रूप में हमें जो दिखाई पड़ता है वह जीवन की विपत्तियों और उत्तरदायित्वों से पलायन का एक प्रयत्न है।[3]

किन्तु वेनेट इस प्रकार के अभिमत से सहमत नहीं हैं। इस पर विचार करने के लिए सहानुभूति की आवश्यकता है। एक बाह्य दृष्टा को निरर्थक ज्ञान प्राप्त

---

1. एन्साइक्लोपीडिया—ब्रिटेनिका, सन् 1968, भाग 16, पृ० 51
2. चार्ल्स ए० वेनेट, दि फिलासिफकल स्टडी ऑफ मिस्टीसिज्म, पृ० 7
3. वही, पृ० 15

करने के लिए प्रयत्नशील एक कलाकार और एक विद्वान् सुविचारमय जीवन (कान्टेम्प्लेटिव लाइफ) के लिए प्रयत्नशील एक भक्त अयोग्य (इनएफशिएन्ट) और समाज विरोधी (एन्टीसोशल) प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु इस प्रकार की बाह्य प्रतीतियां हमें किस प्रकार वास्तविक प्रेरक वृत्ति (मोटिव) का ज्ञान करा सकती हैं और परिणामतः हमें किस प्रकार ऐसे जीवन के मूल्य का ज्ञान करा सकती हैं।[1] अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार के रहस्यवादी जीवन का मूल्य समझने के लिए सहानुभूति और अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि की आवश्यकता है। ऐसे वास्तविक रहस्यवादियों को बौद्धिक (इन्टेलेक्चुअल) शंकाएं, बाधाएं नहीं पहुचातीं। उनका दार्शनिक उलझनों अथवा समस्याओं से भी संबंध नही रहता। उनके लिए दर्शन भी उन विभिन्न बाधाओं में से एक है, जिसे वे हटाना चाहते है।[2]

हिन्दू रहस्यवाद का विचार करते हुए डॉ० दासगुप्त ने बतलाया है कि निम्नकोटि के रहस्यवाद (चामत्कारिक सिद्धियों की उपलब्धि) से उच्चतर रहस्यवाद का भेद इस आधार पर किया जा सकता है कि इसके अनुसार केवल युक्ति (रीजन) से ही नहीं अपितु अन्य उपायों से – जैसे इच्छा शक्ति के दृढ़ और स्थिर नियन्त्रण से उचित संवेगों (इमोशंस) के विकास से अथवा दोनों के समन्वय से सर्वोच्च तत्त्व (हाइएस्ट रियलिटी) अथवा पूर्ण साक्षात्कार (अल्टीमेट रियलाइ-जेशन) और सिद्धि की उपलब्धि हो सकती है। इसी को वे उच्चतर और वास्तविक रहस्यवाद मानते है क्योंकि इस रहस्यवाद का लक्ष्य है आत्मशक्ति की मुक्ति और परमानन्द की उपलब्धि। इस्लामी, ईसाई और भारतीय भक्त रहस्य-वादियों का एक सामान्य विश्वास है कि ईश्वर दर्शन और उसकी कृपा की प्राप्ति भक्ति पूर्ण संयोग (डिवोशनल कम्यूनियम) या विभिन्न प्रकार के भक्ति के आनन्दों से प्राप्त की जा सकती है। इन सभी रहस्यवादियों में जो समान बातें मिलती हैं, वे है—1. मानस की शुद्धता के प्रति तीव्र सावधानी (एकीन सेन्स आव दि नेसेसिटी आव प्योरिटी आव माइंड) 2. संतुष्टि (कांटेन्मेंट) 3. नैतिक सात्विकता के प्रति सतत् जागरूकता, 4. मात्र ईश्वर की मान्यता (वन प्लान्टिड नैस टु गॉड)। बिना नैतिक महानता के सच्चा रहस्यवाद संभव नही। रहस्यवाद के अन्य विवेचकों के समान ही डॉ० दासगुप्त भी रहस्यवाद को कोई बौद्धिक सिद्धांत (इन्टेलेक्चुअल थ्योरी) नही मानते ! यह जीवन का तत्वतः क्रियात्मक, निर्माणात्मक, सर्जनात्मक, उत्थानात्मक, अनश्वर सिद्धांत है। यह जीवन के लक्ष्य और समस्याओं की, अपेक्षाकृत अधिक सत्य और चरमान्तरूप में, केवल मुक्ति तर्क का सहारा लेकर समाधान नही देता है अपितु यह उनकी एक आध्यात्मिक

---

1. चार्ल्स ए० बेनेट, दि फिलासिफकल स्टडी ऑफ मिस्टीसिज्म, पृ० 16
2. वही, पृ० 23

पकड़ है। डॉ० दासगुप्त ने यह परिभाषा क्यों स्वीकार की? इस विषय में उनका कथन है कि जिससे इसके अन्तर्गत मुसलमानी, ईसाई, भारतीय भक्तिवादी रहस्यवाद ही न आ सकें अपितु अन्य भारतीय रहस्यवाद भी अन्तर्भूत हो जाएं। इस प्रकार की परिभाषा के अन्तर्गत वैदिक कर्मकाण्ड प्रधान रहस्यवाद को भी स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने औपनिषदिक, यौगिक, बौद्ध और भक्तिपरक रहस्यवाद को भी इसमें अन्तर्भूत कर लिया है। उन्होंने 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार भी भारतीय के लिए किया है।[1]

सिद्ध साहित्य को हम दो रूपों मे विभाजित कर सकते हैं---प्रथम वे रचनाएं है जिनमें धर्म के सिद्धान्त, मतवाद, तत्व आदि का विवेचन किया गया है और द्वितीय वे रचनाएं है जिनमें कर्मकाण्ड का खंडन, तन्त्र मन्त्र विधि आदि की व्याख्या की गई है। बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो शाखाओं में विभक्त हो गया अतएव दोनों के सिद्धान्तों में कुछ मतभेद होने के कारण उनके साहित्य में भी मतभेद होना अनिवार्य था। हीनयान जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा पा जाने मे निर्वाण प्राप्त मानते हैं और वही उनका साध्य है। महायान में लोक-मंगल की भावना करता हुआ व्यक्ति उस चित्तवृत्ति को पाना चाहता है जिसे बोधि चित्त कहा जाता है और जिसे प्राप्त कर व्यक्ति निरन्तर उन्नति करता जाता है। सिद्ध साहित्य में 84 सिद्धों का नामोल्लेख मिलता है जिनका विवरण महापंडित राहुल जी ने 'हिन्दी काव्यधारा' में किया है। सिद्धों की रचनाओं की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है।[2] डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का भी यही अभिमत है।[3] सिद्धों ने अपनी कविता के मुख्य विषय के रूप में रहस्यमयी भाषा में सिद्धान्त प्रतिपादन, सहज मार्ग, तन्त्र मन्त्रादि का खण्डन आदि को ग्रहण किया है। इन बौद्ध सिद्धों के रहस्यवाद के विषय में जानकारी के लिए 'प्रसाद' जी की रहस्यवाद विषयक परिभाषा का उल्लेख कर देना अनिवार्य है।

रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए पं० जयशकर प्रसाद ने लिखा है, "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"[4] परिभाषा को समझने के लिए 'काव्य' और आत्मा की 'संकल्पात्मक अनुभूति' की व्याख्या करना भी अनिवार्य हो जाता है। प्रसाद जी ने काव्य को आध्यात्मिक

---

1. डॉ० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त, प्रीफेस, पृ० 7-11
2. प्रो० हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 305
3. दि ओरिजन एंड डैवलपमेंट आफ दि बंगाली लेंग्वेज, पृ० 112 अपभ्रंश साहित्य से उद्धृत।
4. पं० जयशंकर प्रसाद 'रहस्यवाद' शीर्षक 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में, पृ० 46

माना है । साहित्यशास्त्र में भी काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द की संज्ञा दी गई है । हम अधिक विस्तार में न जाकर प्रसाद जी के शब्दों में ही काव्य की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे । वे लिखते है—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है । आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की दो धाराएं हैं— एक काव्यधारा और दूसरी वैज्ञानिक शास्त्रीय या दार्शनिक धारा। समझ रखना चाहिए कि इन दोनो में कोई मौलिक अन्तर नही है, दोनों ही आत्मा के अखण्ड संकल्पात्मक स्वरूप के दो पहलू मात्र है ।"[1] काव्य की व्याख्या मे उन्होंने आगे कहा है कि काव्य को, "संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा । आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है ।"[2] यहा 'असाधारण-अवस्था' का उल्लेख ही रहस्यवादात्मक है । यह 'असाधारण अवस्था' आत्मा की है अतएव अनुभूतिपरक है । आत्मा का विशुद्ध स्वरूप आनन्दमय है । वैदिक काल से लेकर अब तक इस आनन्दमयी अवस्था को माना गया है परन्तु यह एक दूसरी बात है कि मतवादो के चक्र से व्याख्या मे अन्तर है । एक युग ऐसा आया कि बौद्धों का दु:खवाद भी आनन्दवाद की चरमसीमा को पार कर गया ।

बौद्ध सिद्धो के रहस्यवाद की व्याख्या करने के लिए बौद्ध धर्म के 'निर्वाण' शब्द की व्याख्या अनिवार्य है । 'निर्वाण' क्या है ? नागार्जुन ने उसे शून्य बताया । इस शून्यवाद से महायान सम्प्रदाय को संतुष्टि नही हुई । मैत्रेयनाथ का कहना था कि शून्य में विज्ञान विद्यमान रहता है अत: शून्य में विज्ञान को मिलाकर इसे विज्ञानवाद भी कहा गया । इस विज्ञानवाद से भी जनता को सान्त्वना नहीं हुई । अत: बौद्ध धर्मानुयायी शून्य और विज्ञानवाद से ऊब गए और सहज आनन्द की खोज करने लगे । धर्म गुरुओं ने शून्य के लिए 'निरात्मा' शब्द खोजा और उसका अर्थ किया आत्मा में लीन हो जाना । इसका अर्थ यह माना गया कि बोधिसत्व इसी निरात्मा मे लीन हो जाता है और वही महासुख में डूबा रहता है । इस प्रकार आठवी शताब्दी में शून्य मे महासुखवाद की भी कल्पना कर ली गई । अनात्मवादी बौद्धों ने वैदिक अम्बिका आदि के आधार पर अनेक शक्तियों की कल्पना करके रहस्यमयी साधना-पद्धतियां प्रचलित की । निरात्मा को देवी माना गया और उसी के आलिंगन में बोधिचित्त लीन रहता है । यह निश्चय कर लिया गया । इस महासुख के परिणामस्वरूप वज्रयान की उत्पत्ति हुई ?[3] वज्रयान से

---

1. पं० जयशंकर प्रसाद 'रहस्वाद' शीर्षक, 'काव्य और कला', पृ० 37
2. वही, पृ० 38
3. बी० भट्टाचार्य, इंडियन बुद्धिस्ट इकोनोग्राफी, भूमिका, पृ० 17

तात्पर्य वज्र अर्थात् शून्य के द्वारा निर्वाण प्राप्त करना। निर्वाण प्राप्ति के इस साधन का उपदेश देने के लिए गुरुओं की आवश्यकता हुई अत: वज्रयानियों में गुरु का महत्त्व बढ़ा। इस सिद्धान्त को महासुखवाद की संज्ञा दी गई।

उक्त महासुखवाद की स्थापना होने से वज्रयानी सम्प्रदाय में एक ओर उच्च धार्मिकता को स्थान मिला और साथ ही निम्न कोटि के अनैतिक आचरणों को भी प्रश्रय दिया गया। वज्रयानी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को सिद्ध लोग उन्हीं पात्रों को सुनाते थे जो उसके पात्र होते थे। कारण यह था कि उन्हें अपनी पोल खुल जाने का भय था। अत: उन्होंने आगम के बाद रहस्यवाद की धारा अपनी प्रचलित भाषा में, जिसे वे संध्या भाषा कहते थे, अविच्छिन्न रखी।[1] भाषा में द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग इसलिए किया जिससे कि लोगों को धोखे में रखा जा सके। यहीं से इनमे रहस्य भावना का समावेश हो गया।

बौद्ध सिद्धों ने निर्वाण प्राप्ति के रहस्योद्घाटन के लिए अशिक्षित जनता में अनेक मुद्रा, मन्त्र, मडल, पूजा, स्तोत्रादि को आवश्यक बतलाया।[2] इनके इन सिद्धान्तो में योग, देव पूजा, मन्त्र, सिद्धि, विषयभोग आदि विद्यमान थे। बौद्धों के अनुसार संसार 26 लोको में विभक्त है, इसके मोटे रूप से तीन विभाग किए हैं काम, रूप और अरूप। बोधिचित्त निर्वाण प्राप्ति के लिए इन लोकों मे प्रवेश करता है। सर्वोच्च स्थान पर पहुंचकर बोधिचित्त अपने आपको शून्य में डुबा देता है और विलीन हो जाता है। वह महासुख की अनुभूति से युक्त हो जाता है। इसी महासुख के अत्यधिक विस्तार मे वज्रयानी शाखा में घोरतम अनाचार होने लगे थे। फलस्वरूप इसी की एक शाखा सहजयान के रूप में आई।

सहजयानी सिद्धों ने वज्रयानी मन्त्राचारादि बाह्याचारों का खंडन किया यद्यपि वज्रयान और सहजयान दोनों का लक्ष्य महासुख या पूर्ण आनन्द की प्राप्ति ही था तथापि दोनों मे से अंतिम यान में सुधार की भावना थी।[3] चित्त की शुद्धि और चित्त की मुक्ति ही सहज सिद्धि है, निर्वाण है, साधक का अंतिम लक्ष्य है। सहजयान के अनुसार चित्तशुद्धि से सहजावस्था की प्राप्ति होती है और यही 'सहज' हमारा परम लक्ष्य है। इस सहज को ही बोहि (बोधि), जिणरअण (जिनरत्न), महासुह (महासुख), अणुत्तर (अनुत्तर), जिनपुर, धाम अदि नामों से पुकारा गया है।[4]

रहस्यवादी बौद्ध सिद्धों में सरहपा, कण्हपा, नारोपा, शबरपा, लुइंपा आदि

1. 'काव्य कला और अन्य निबन्ध', पृ० 64
2. अपभ्रंश साहित्य, पृ० 302
3. वही, पृ० 304
4. पं० परशुराम चतुर्वेदी, 'उत्तरी भारत की संत परंपरा', पृ० 41

का नामोल्लेख किया जा सकता है। अब क्रमशः इन सिद्धों की कतिपय रहस्यवादी कविताओं का उल्लेख करेंगे। सरह की कविता के विषय हैं—रहस्यवाद, पाखंडों का खंडन, मन्त्र, गुरुमहिमागान आदि। भव या निर्वाण जिस चित्त शुद्धि से प्राप्त होता है, उसी चित्त शुद्धि को लेकर सरह से निम्न पक्तियां लिखी है—

"चितेके सअल वीअं भवणिव्वाणो वि जस्स विफुरंति।
तं चिंतामणि रुअं पणमह इच्छा फलं देंति ॥
चित्त बज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ णात्थि संदेहा।
बज्झंति जेण वि जड़ा लहु परिमुच्चंति तेण बि वुहा ॥[1]

अर्थात् चित्त ही सबका बीज रूप है, भव या निर्वाण भी उसी से प्राप्त होता है। उसी चिंतामणि रूप को जो इच्छानुसार फल देता है, प्रणाम करो। चित्त के बद्ध होने पर मनुष्य बद्ध कहा जाता है और उसके मुक्त होने पर निःसन्देह मुक्त हो जाता है···आदि।

सरहपा ने रहस्यवादी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी किया है। चित्त सर्वरूप है, अतः उसके विषय मे वे कहते है कि "सवरूप चित्त को ख-समगगन के समान अर्थात् शून्य बना देना चाहिए। मन को भी शून्य स्वभाव वाला बना देना चाहिए। जब वह मन अमन हो जाए (स्थिर हो जाए) तभी सहज स्वभाव की प्राप्ति होती है—

सव्व रुअ तहि खमम करिज्जइ, खसम सहावे मणवि धरिज्जइ।
सो वि मणु तहि अमणु करिज्जइ, सहज सहावे सो परु रज्जइ ॥[2]

गुरु के महत्त्व को सरहपा के शब्दो मे देखिए—

"गुरुउवएसे अमिअ रसु, धाव ण पीअ जेहि।
वहु-सत्थत्थ मरुत्थलहि, तिसिए मरिअउ तेहि ॥[3]

अर्थात् गुरु के उपदेश रूपी अमृत को जो दौड़ कर नही पी लेता वह उस स्वस्थ व्यक्ति के समान है जो मरुस्थल में प्यासा मर जाता है। इसी प्रकार वे तन्त्र-मन्त्र को भी व्यर्थ समझते हैं—

---

1. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 308 से उद्धृत
2. वही
3. वही, पृ० 307

"मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण ।
सव्व वि रे वढ़ विब्भम कारण ।।"[1]

कण्हपा सहज मार्ग प्राप्ति का उपदेश देते हैं—

जइ पवण गमण दुआरे, दिढ़ तालावि दिज्जइ ।
जइ तसु घोरान्धारे, मण दिवहो किज्जइ ।।
जिण रअण उअरें जइ, सो वरु अम्बरु छुप्पइ ।
भणइ काण्ह भव भज्जन्ते, णिव्वाणो वि सिज्झइ ।।

कण्हपा ने शास्त्राचरण मात्र से कल्याण चाहने वालों को फटकारा है—

आगम बेअ-पुरोणेहि पण्डिअ माण वहन्ति ।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति ।।[2]

अर्थात् आगम, वेद, पुराण को ही सर्वस्व मानकर पंडितजन उन्हें वहन करते हैं, (ठीक उसी प्रकार) जिस प्रकार कि पके हुए श्रीफल के बाहर ही भ्रमर घूमते रहते हैं।

नारोपा सहज आनन्द के उपासक थे, वे कहते हैं —

अनुभव सहज मा मोल रे जोई ।
चोकोट्टि विबुका जइसो तइसो होई ।।
जइसने आछिले स वइसन अच्छ ।
सहज पथिक जोई भान्ति माहो वास ।।[3]

विस्तार भय से अन्य सिद्धों की रहस्यवादी कविताएं यहां हम नही दे पा रहे हैं। अब यहां अति संक्षेप में मध्यकालीन रहस्यवाद के स्वरूप पर विचार करेंगे।

मध्यकालीन रहस्यवाद वह रहस्यवाद था जो कि अपने को मानवता के उच्च शिखर में आसक्त करता था और जो कि एक पूर्ण सत्ता से मिलन की नीव थी। इस युग का रहस्यवाद दार्शनिक व्याख्याओं तथा दार्शनिक कल्पनाओं से घृणा करता था। प्रो० रानाडे ने मध्यकालीन रहस्यवाद के विषय में लिखा है, "जैसे ही हम औपनिषदिक रहस्यवाद से मध्ययुगीन रहस्यवाद का मार्ग तय करते हैं, हमें ऐसा लगता है कि आत्मिक जीवन को छिपे हुए आश्रमिक जीवन से लाकर खुले

1. 'अपभ्रंश-साहित्य', पृ० 306
2. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' से उद्धृत, पृ० 289
3. 'काव्य कला और अन्य निबन्ध' से उद्धृत, पृ० 64

बाजार में रख दिया है।"[1] मध्ययुगीन रहस्यवाद की मूल स्थापनाओं के रूप में सहज जीवन, प्रेम, प्रतीक पद्धति के माध्यम से जीव और शिव की चर्चा को लिया जा सकता है।

हम पीछे लिख चुके हैं 'निरात्मा' को वज्रयानियों ने स्त्रीलिंग होने के कारण देवी माना और फिर इसे बोधिचित्त रूपी पुरुष से सम्मिलन का रूप दिया। इन सिद्धों का अपना विश्वास था कि जिस प्रकार पुरुष स्त्री के आलिंगन से सुख प्राप्त करता है वैसे ही बोधिचित्त नैरात्मा देवी के साथ आलिंगन करने में महासुख प्राप्त करता है। इस विषय को लेकर आगे चलकर वज्रयान सिद्धों के लिए किसी कर्म को करने का निषेध नही रहा। मास, मदिरा, मैथुन आदि के सेवन में ही वे अपनी साधना समझने लगे। यह आनन्द का लोभ यहां तक बढ़ा कि योगियों को सभी प्रकार के भोगो का भोग करने की छूट मिल गई। कहा गया :—

"सभोगार्थमिद सर्व त्रैधातुकमशेषत.।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च।।"[2]

अर्थात् वज्रनाथ ने सिद्धों के सभोग के लिए ही सब निर्मित किया है और सिद्धो का कल्याण या हित किया है। नैरातमदारा के साथ सिद्धों का कल्याण या हित किया है। नैरातमदारा के साथ सिद्धो का रमण होने लगा। प्रज्ञा और उपाय के भौतिक प्रतीक स्त्री और पुरुष के पारस्परिक मिलन की अंतिम दशा समरस या महासुख के नाम से कहलाई।[3] सिद्धो की यह अवस्था चरमोत्कर्ष पर पहुची और तब उन्हे निम्न बात कहने मे भी सकोच नही हुआ :—'स्त्रीन्द्रिय य यथा पद्मवज्र' पुसोन्द्रियं तथा' अर्थात् स्त्रीन्द्रिय वास्तव मे पद्मस्वरूप है और पुसेन्द्रिय उसी प्रकार वज्र का प्रतीक है।[4] ये सूत्र व्यभिचार के साधन बन गए।

नारी पूजा का रूप जैन रहस्यवादियो मे भी है। जैन कवियों में हठयोग और कुडलिनी जागरण की वे प्रक्रियाए नहीं है, व्रत और कृच्छ तप अवश्य हैं। चक्रेश्वरी, अम्बि तथा अन्य शासन देविया भी ग्रहीत हुई है। परन्तु सब कुछ होते हुए भी जैन रहस्यवाद में सिद्धो की तरह अश्लीलता नही आई और वे पंचमकार सेवन से बचे रहे। नैरातमदारा के साथ सिद्धों के रमण की चर्चा की भाति रहस्यवादी जैन काव्यों मे कही देखने को भी ऐसी कोई बात नहीं मिलेगी।

---

1. प्रो० रानाडे 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र', पृ० 1-2
2. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 303 से उद्धृत
3. 'उत्तरी भारत की संत परंपरा', पृ० 36
4. वही, उद्धृत।

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ।।

अर्थात् मैं सगुणी हूं मेरा प्रिय निर्लक्षण निःसर्ग है । एक ही अंग में निवास करते हुए भी मेरा अंग उसके अंग से नहीं मिला ।[1] इस प्रकार जैन रहस्यवाद अपनी निजी परंपरा रखता है ।

1. पाहुड़ दोहा, 100 वां दोहा ।

जैन अपभ्रंश काव्य—परिचय एवं चयन

भाषाशास्त्री अपभ्रंश भाषा का समय 500 ई० से 1000 ई० तक मानते है।[1] डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार—"ईसा की तीसरी शताब्दी में अपभ्रश आभीरादि निम्न जातियों की भाषा का नाम था, जो सिन्ध और पंजाब मे बोली जाती थी।" 10वीं शताब्दी में यह भाषा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची।[2] जब तक अपभ्रंश-साहित्य की प्रचुर सामग्री उपलब्ध नही हुई थी तब तक उसकी उपेक्षा करना संगत हो सकता था। अब अपभ्रंश साहित्य की प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री इतनी अधिक उपलब्ध हो चुकी है कि उसका अपना साहित्य किसी भाषा के साहित्य से कम महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता। सन् 1902 ई० में जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान पिशैल ने अपभ्रंश के अध्ययनार्थ एक बहुत अच्छा संग्रह 'माटेरियालिएन त्सुरकेंटनिस डेस अपभ्रश' निकाला। तदनन्तर पी० डी० गुणे, दलाल, डॉ० हीरालाल, डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल आदि ने अपभ्रंश के उद्धार के अनेक प्रयत्न किए हैं। परिचय की सुविधा के लिए अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण करना उपयुक्त होगा। अधिकांश अपभ्रंश-साहित्य की रचना विदर्भ, गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, मिथिला और मगध में हुई। अत: प्रान्तों के आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है। दूसरा वर्गीकरण का आधार काव्यरूप—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य के अनुसार हो सकता है। धर्म या सम्प्रदाय की दृष्टि से भी अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण हो सकता है। अधिकांश अपभ्रंश-साहित्य जैनियो द्वारा ही रचित मिलता है, इसका विभाजन दो भागों में किया जा सकता है—(1) जैन अपभ्रंश-साहित्य (2) जैनेतर अपभ्रंश-साहित्य। जैनेतर धर्म वाले अपभ्रंश साहित्य मे अन्य संप्रदाय वालों का अपभ्रंश-साहित्य आ जाता है।[3] यहां हमें वर्गीकरण का तीसरा आधार ही अपेक्षित

1. प्रो० हरिवंश, अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 34
2. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 46-47
3. प्रो० हु० कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० 48

है। इस आधार में से भी जैन अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त परिचय मात्र देना अभिप्रेत है।

जैन अपभ्रंश साहित्य की रचनाओं को महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तककाव्य, कथा साहित्य और चरित काव्यादिक अनेक साहित्यिक विधाओं में विभक्त किया जा सकता है।

1. **महाकाव्य** – तीर्थंकरों में ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर को लेकर जैन अपभ्रंश में अनेक महाकाव्यों की रचना हुई। इनमें स्वयंभू का 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ' या 'हरिवंशपुराण', पुष्पदन्त द्वारा रचित 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार', यशकीर्ति कृत 'पांडवपुराण' और 'हरिवंशपुराण' आदि अनेक महाकाव्य प्रसिद्ध हैं।
2. **खण्डकाव्य**—कवि पुष्पदन्त द्वारा रचित 'णायकुमार चरिउ', 'जसहर-चरिउ', वीर कवि का 'जंबु सामिचरिउ', नयनन्दी कृत 'सुदंसण चरिउ', मुनि कनकामर की 'करकंड चरिउ' और दिव्यदृष्टि धाहिल का 'पउम-सिरी चरित' आदि रचनाए उपलब्ध हुई हैं।
3. **मुक्तक काव्य**—'परमप्पयासु' और 'योगसार' योगीन्दु कृत रचनाएं हैं। मुनि रामसिंह कृत 'पाहुड़दोहा' देवसेन का 'सावयधम्मदोहा', मुनि महचंद कृत 'दोहा पाहुड़' और आनन्दतिलक की रचना 'आणंदा' आदि रचनाएं मुक्त काव्य के रूप मे मिलती हैं।
4. **रूपक काव्य**—हरिदेव कृत 'मयण पराजय चरिउ', कवि बुच्चराज कृत *'मयण जुज्झ' आदि रूपक काव्य मिलते हैं। उक्त काव्यों के अतिरिक्त* जैन अपभ्रंश काव्य में कथा साहित्य के काव्यों की भी भरमार है। अपभ्रंश-साहित्य के ग्रंथों की एक लम्बी सूची है।[1] यहां सूची का देना अनुपयुक्त नही तो अनपेक्षित होगा।

उपर्युक्त जैन अपभ्रंश-काव्यों और काव्यकारों में से योगीन्दु, मुनि रामसिंह और देवसेन की रहस्यवादी रचनाओं को ही हम अपने अध्ययन का विषय बनाएंगे। क्यों ? चूंकि जैन अपभ्रंश-काव्य की प्राप्य सामग्री में प्रस्तुत काव्य ही रहस्यवादी रचनाओं के रूप में सामने आए हैं। मुनि महचंद कृत 'दोहा पाहुड़' और आनन्दतिलक कृत 'आणंदा' को डॉ० प्रेम सागर जैन ने 'रहस्यवाद का उत्तम

1. विशेष जानकारी के लिए देखिए—
प्रो० ह० दा० वेलणकर द्वारा संपादित 'जिन रत्न कोश' भाग 1, 1944 ई० और डॉ० कासलीवाल द्वारा संपादित 'राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची' भाग 1, 2, 3 आदि

निदर्शन' के रूप में माना है।[1] आगे हम अपने चयन के अनुसार ग्रंथ और ग्रंथ-कारों पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

योगीन्दु कृत परमात्मप्रकाश[2]

योगीन्दु ने अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट के प्रश्नों की जिज्ञासा शांत करने के लिए प्रस्तुत ग्रथ की रचना की।[3] इस विषय में प्रमाण के लिए अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नही। रचना के अन्तर्गत ही सब प्रमाण प्रस्तुत है। जोइन्दु अपने लिए 'जिन' से संबोधित करते है—

भावि पणविवि पच-गुरु सिरि-जोइन्दु-जिणाउ।
भट्ट पहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥8॥
गउ संसारि वसंताहंसामिय कालु अणंतु।
पर मइं किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महतु ॥9॥[4]

अर्थात् शुद्ध भावो से पच परमेष्टियो को नमस्कार कर प्रभाकर भट्ट अपने परिणामो को निर्मल कर श्री योगीन्दु जिन से शुद्धात्मतत्व को जानने की विनती करता है ।8। आगे कहता है—हे स्वामिन् ! इस ससार मे निवसते हमारा अनन्तकाल बीत गया, लेकिन मैंने सुख की अपेक्षा दु.ख ही पाया। इसका क्या कारण है ? इन पद्यों (गाथाओ) से स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना जोइन्दु की ही है तथा उन्होने अपने शिष्य के लिए इसकी रचना की थी। परमात्मप्रकाश के विशद विवेचन के लिए उसके अनेक पहलुओ पर विचार करना होगा। यहा हम परमात्मप्रकाश के दार्शनिक और रहस्यवादी तत्वों की व्याख्या करेंगे।

परमात्मप्रकाश के दार्शनिक तत्व और रहस्यवाद

जैन दर्शन अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ता है। व्यवहारनय और निश्चयनय जैन दर्शन के दो दृष्टिकोण हैं। परमात्मप्रकाश के रचयिता ने भी इन दोनो दृष्टिकोणों को अपनाया है—

व्यवहारनय और निश्चयनय—आत्मा वास्तव में परमात्मा है।[5] परन्तु

---

1. डॉ० प्रेमसागर, 'जैन अपभ्रंश का हिन्दी निर्गुण भक्ति-काव्य पर प्रभाव' लेख—परिषद पंजिका, पृ० 34
2. डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित, बम्बई 1937 ई०
3. वही, प्रस्तावना, पृ० 58
4. परमात्मप्रकाश, पृ० 16
5. वही, पृ० 46-47 और पृ० 317

कर्म समूहों में फंसकर वह (आत्मा) अनेक दशाओं और परिस्थितियों से गुजरती है, व्यवहारनयानुसार "यह जीव कर्मों के कारण अनेक विकल्प रूप परिणमन करता है, इसी से पाप-पुण्य होता है।"[1] निश्चयनयानुसार "साधारणतया आत्मा सबको देखती है। आत्मा कर्मों के कारण दासत्व से छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाती, जीवों के अनेक सुख-दुःख कर्मों के कारण ही होते हैं, आत्मा उपयोगमयी होने से देखता है और मात्र जानता है।" निश्चयनयानुसार जिनेन्द्रदेव का उक्त कथन है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा मृत्यु, बंध मोक्ष से रहित है।[2] केवल आत्मा ही सम्यग्दर्शन है शेष सब व्यवहार है। तीनों लोकों में आत्मा ही सारभूत तत्त्व है।[3] यथार्थ में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्विश्वास और सम्यग्चरित्र का निर्माण स्वयं आत्मा करती है, जो सामान्यतः उसी में अन्तर्निहित रहते हैं और जिनका तात्पर्य है संसार के बन्धनों से छुटकारा होना।[4]

रचनाकार के अतिरिक्त रचना के टीकाकार ब्रह्मदेव ने ग्रंथ की व्याख्या करने में व्यवहारनय और निश्चयनय को एकाधिक बार दुहराया है। अतएव परमात्मप्रकाश के अध्ययन मे हम इन दोनों (व्यवहार और निश्चय) नयों की उपेक्षा नही कर सकते।

व्यवहारनय और निश्चयनय की आवश्यकता—भारतवर्ष में धार्मिक नियम भी दो प्रकार के हैं। एक ओर धर्म में कठोर सयम का पालन करने वाले महात्माओ की अपेक्षा है तो दूसरी ओर सामाजिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए व्यावहारिक नियमो की। इन दोनों स्थितियों का सामना करने के किन्हीं विशेष दृष्टिकोणों की आवश्यकता है। जैन धर्म में तो उन दृष्टिकोणों की आवश्यकता एक विशेष महत्त्व रखती है, चूंकि सत्य की प्राप्ति के लिए जैन धर्म भेद-विज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।[5] व्यवहारनय तर्क पर आधारित है जबकि निश्चयनय अन्तरात्मा से उद्भूत होने वाले आत्मिक अनुभवों का विवेचन करता है। अन्त में व्यवहारनय निश्चयनय के पक्ष में ही विलीन हो जाता है।[6] अन्य शास्त्रों में उक्त नयों की समानता;—उपनिषदों में व्यवहार और निश्चयनय के समान ही विधा के दो भेद मिलते हैं—पराविद्या और अपराविद्या। पराविद्या

1. परमात्मप्रकाश, अ० 1/60
2. वही, 1/64, 65, 68 आदि
3. वही, 1/69
4. वही, अ० 2/12-14 आदि
5. वही, प्रस्तावना, पृ० 29
6. वही, पृ० 30

का विषय है वेद ज्ञान और अपराविद्या का विषय है अविनश्वर ब्रह्म ।[1] यह कुछ-कुछ उन्हीं भेदों की तरह है अतः व्यवहार और निश्चयनयों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। बौद्ध धर्म में भी दो सत्य स्वीकार किए गए हैं, अपूर्ण सत्य और पूर्ण सत्य, जिसे व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य कहा गया है ।[2] योगीन्दु ने भी निश्चयनय को परमार्थनय कहा है। इस प्रकार व्यवहारनय अपने में अपूर्ण है और कभी भी जब तक वह निश्चयनय में समाहित नही हो जाता, पूर्ण नहीं हो सकता। वैसे दोनों नय सापेक्षिक हैं।

आत्मा के भेद— प्रत्येक आत्मा कर्मों के आवरणों से मुक्त होकर परमात्मा बन सकती है। परन्तु उसके तीन भेद होते है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। आत्मा शरीर से भिन्न और अलिप्त है। आत्मा को शरीर समझना अज्ञानता है। यह न घटता है और न बढ़ता है। हम लोग अज्ञानवश आत्मा को शरीर प्रमाणवश घटने-बढ़ने की कल्पना कर लेते है।[3] अतः विज्ञजन अपने को ज्ञानमय और शरीर से भिन्न मानते हैं। उन्हें चाहिए कि आत्मध्यान में लीन हो परमात्मतत्व को सुलभ करें। सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओं का त्याग करने से ही अन्तरात्मा परमात्मा बन जाता है।[4]

उक्त भेद का अस्तित्व—गूढ़वादी (मिस्टिक) अपने आन्तरिक विश्लेषण का विचार करता है और समस्त सांसारिक वस्तुओं को छोड़ता हुआ, अपने अन्दर आत्मा की वास्तविकता को पहचानता है। एक व्यक्तित्व की परीक्षा के लिए परीक्षक के लिए व्यक्ति का शरीर मुख्य नहीं है। वास्तव में शरीर एक साकार आकृति है जिसे आत्मा ने या चेतना ने अस्थायी रूप से अपने अधिकार मे कर लिया है, यह आत्मा के व्यक्तित्व का बाह्य स्वरूप है। आत्मा के स्वरूप (इनडिविज्वलिटी) को पहचानने के लिए अन्तर में प्रवेश करना पड़ता है तथा उस सूक्ष्म चेतन को जानने के लिए ध्यान विधि, साधना या भक्ति द्वारा प्रयत्न करना होता है। अन्तरात्माओं की संख्या अगणित है। प्रत्येक का भाग्य कर्मों द्वारा निर्धारित होता है। जब समस्त कर्म तपस्या द्वारा क्षय (नष्ट) कर दिए जाते हैं, तब आत्मा, अन्तरात्मा परमात्मा के स्तर पर पहुंच जाती है। परमात्मा एक आदर्श है, आत्मिक स्वतन्त्रता का स्तर है। अनेक आत्माएं अपनी विशेषताओं को धारण किए रहती हैं और यहां तक कि वे परमात्मा के स्तर तक पहुंच जाती हैं। इस स्तर पर पहुंचने में आत्मा के अस्तित्व हानि का कोई प्रश्न नहीं उठता। शरीर

1. मुण्डकोपनिषद 1/4-5
2. डॉ० दासगुप्त, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी' भाग 2, पृ० 3
3. परमात्मप्रकाश पृ० 56-57 आदि
4. वही अ० 1/11-15

आत्मा नहीं है और प्रत्येक आत्मा जब वह कर्मों से स्वतन्त्र होती है—परमात्मा बन जाती है। यही अवस्था आत्मा के विस्तार का सर्वोच्च स्थान है जहां से कि उसे कभी लौटाया नहीं जा सकता। यह त्रैरूप्य विभाजन आत्मा (चेतन) और पुद्गल (पदार्थ) दो स्वतन्त्र अवस्थाओं पर आधारित है, यद्यपि ये अनादिकाल से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।[1]

प्राचीन जैन ग्रन्थों में आत्मा के भेद— आचार्य कुन्दकुन्द ने (ई० प्रथम शताब्दी) अपने ग्रंथो मे अनेक स्थलों पर आत्मा के भेदों का उल्लेख किया है।[2] इसके बाद पूज्यपाद (ई० 5 वी श० अन्तिम पाद) ने अपने ग्रंथ समाधिशतक में स्पष्ट रूप से चर्चा की है। तदोपरान्त गुणभद्र, अमितगति इत्यादि ने आत्मज्ञान की चर्चा करते हुए इस विषय पर प्रकाश डाला है। इसके बाद योगीन्दु आदि ने इस विषय को स्पष्ट किया है।

अन्य दर्शनशास्त्रों में आत्मा के भेदों की प्रतिमूर्ति—वेदान्त में आत्मवाद का उल्लेख मिलता है। उपनिषदिक काल के कर्मकांडी पुरोहितों के अतिरिक्त उस समय मे आत्म विद्या का चिन्तन करने वाले तपस्वियो का भी एक सम्प्रदाय था जो अपना अधिक समय आत्मचिंतन में ही लगाते थे।[3] इनका विवेचन उपनिषदों और बाद के साहित्य में मिलता है। खोज और प्रयत्न के बाद आत्मा की स्थापना हुई और आगे चलकर हम आत्म-विवेचन का प्रयत्न पाते हैं। आत्म विद्या और आत्मा के चिन्त्यज्ञान के विषय में उपनिषदिक मूलसूत्रों के तीन भाग देखने में आते है। तैत्तिरीयोपनिषद मे 5 आवरण बतलाए है, प्रत्येक को आत्मा कहा गया है—

1. अन्नरसमय (खाद्यतत्त्व से निर्मित), 2. प्राणमय (श्वास), 3. मनोमय (विचार), 4. विज्ञानमय (चेतनाशक्ति) और 4. आनन्दमय (आशीर्वाद), ये पंचावरण है। कठोपनिषद में आत्मा के तीन भेद किए गए है, ज्ञानात्मा, महदात्मा और शांतात्मा।[4] अनेक स्थलों पर उपनिषदों में आत्मा और शरीर को भिन्न बतलाया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद मे निरतिशय प्रिय रूप से आत्मोपासना 'आत्मेत्येवोपासीत' कहकर विवेचन किया है।[5] रामदास ने आत्मा के चार भेद किए है—1. जीवात्मा, जो शरीर से बद्ध है, 2. शिवात्मा—जो विश्व को व्याप्त किए है, 3. परमात्मा—जो विश्व और उसके बाहर भी व्याप्त है

---

1. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ० 30-31
2. मोक्षपाहुड़, प्र० मा० दि० जैन ग्रंथमाला, गाथा 5-8 आदि
3. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ० 31
4. कठोपनिषद 1/3/13
5. बृहदारण्यकोपनिषद अध्याय 1, ब्रा० 4 सू० 8

4. निर्मलात्मा—जो पूर्ण ज्ञानमय है और जिसमें कोई गतिमान क्रिया नहीं है। अन्त में वे चारों को एक ही के अन्तर्भूत मानते हैं।[1]

आत्मिक ज्ञान—आत्मज्ञान होने पर संसार की परिक्रमा नहीं करनी पड़ती। योगीन्दु का कहना है, "जो जीव संसार शरीरादिक भोगों से अपने मन को विरक्त कर शुद्धात्मा का चिन्तन करता है उसकी संसाररूपी लम्बी बेल नष्ट हो जाती है।[2] समस्त वस्तुओं को त्यागकर कर्मों का नाश करने वाला आत्मा ही आत्मा कहा जा सकता है।[3] विशुद्धात्मा के ध्यान से मुक्ति शीघ्र मिल जाती है। बिना आत्मज्ञान के धर्मशास्त्रों का अध्ययन और तपस्या का अभ्यास सब व्यर्थ है। जब आत्मा जान ली जाती है सारा संसार जान लिया जाता है। जिसने स्वयं को पहचान लिया वह समस्त ससार को भी पहचानता है।[4] आत्मज्ञान कर्मों का क्षय करता है और शाश्वतानन्द का उपभोग करता है।

आत्मा का स्वभाव—आत्मा शरीर मे रहते हुए भी शरीर से पूर्णतः भिन्न है। जिस प्रकार वस्त्र शरीर नहीं हो सकते उसी प्रकार शरीर आत्मा नही हो सकता।[5] गीता में आत्मा को अछेद्य-अभेद्य घोषित किया गया है—

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापः न शोषयति मारुतः॥2/23॥

षड्द्रव्यों मे आत्मा जीव अथवा आत्मा ही चेतन द्रव्य है, यह अमूर्त है, अनंत ज्ञानानन्द का भण्डार है।[6] आत्मा चेतना मात्र है।[7] आत्मा द्रव्य है, दर्शन और ज्ञान उसके गुण है, उसकी सत्ता की चार दशाएं (गतियां) है जिनमें कर्मों के कारण रूपान्तर होता रहता है।[8] (योगीन्दु ने आत्मा की उपमा एक लंगड़े आदमी से दी है। उनका कहना है कि कर्म या विधि उसे (आत्मा) गति प्रदान करते हैं।[9] शरीर में आत्मा का होना उसकी गति या चेतनता का द्योतक है।[10] जन्म, मृत्यु,

---

1. प्रो० रानाडे, 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र', पृ० 386
2. परमात्मप्रकाश 1/32
3 वही, 1,74, 76
4. वही, 1/98
5. वही, 1/14, 34 आदि
6. वही, 1/76, 2/17-8
7. वही, 1/92
8. वही, 1/58
9. वही, 1,66
0. वही, 1/44

रोग, लिंग, जाति और वर्णादि शरीर से सम्बन्धित हैं आत्मा से नहीं, आत्मा तो वास्तव में उक्त सभी से मुक्त है।[1] ज्ञान की दृष्टि से आत्मा विश्वव्याप्य है क्योंकि उसके अनन्त ज्ञान का कार्य सर्वत्र है, जब वह कार्यरहित होता है वह जड़ है। आत्मज्ञान के बाद उसकी चेतना कार्य नहीं करती, वह ठीक उसी शरीर के समान हो जाता है जैसाकि उसका शरीर क्योंकि अन्त में उसकी वही दशा होती है जैसा कि उसका अन्तिम शरीर। उस अवस्था में अर्थात् मुक्तावस्था में आत्मा को शून्य भी कहते हैं। चूंकि तब वह कर्मबन्धन तथा अन्य पापों से मुक्त हो जाता है।[2] अन्तर की दृष्टि से आत्मा और शरीर एकाकार हैं, पर अपने ज्ञान के द्वारा वह समस्त अन्तर को आवरित किए है।[3] अष्टकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय) तथा समस्त पापों का नाश करने वाला आत्मा जो अनन्त दर्शन-ज्ञान और चारित्रयुक्त है वही पूज्य है।[4] आत्मा आत्मा से भिन्न नहीं है, सभी आत्माएं एक-दूसरे के समान, जन्म-मरण रहित और अनन्त ज्ञान से युक्त हैं। सभी के गुण दोषों को दर्शन और ज्ञान से जाना जाता है।

परमात्मा का स्वभाव—*जिस प्रकार मलिन दर्पण मे प्रतिरूप या आकृति* नहीं दिखाई पड़ती उसी प्रकार मलिन चित्त में परमात्मा का भान नहीं होता।[5] परमात्मा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तानन्द और अनन्त शक्ति प्रतिनिधित्व करता है।[6] तीनों लोकों से ऊपर मोक्ष में परमात्मा का निवास है, हरि-हर उस की भक्ति करते हैं, वह अनादि अनन्त है, निष्कलंक, अनन्त-ज्ञानानन्द का कोष है और योग्यता-अयोग्यता, पुण्य-पाप से रहित है।[7] विशुद्ध ध्यान ही उसे पहचान सकता है। साधना करते समय जब साधक आत्मलीन हो अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर कर लेते है तब परमात्मा शाश्वतानन्द के रूप में उन्हें प्रकट हो जाता है।[8] परमात्मा संसार के शिखर पर है, संसार उसमें प्रतिबिम्बित है अतएव वह अपनी कल्पना में संसार और आत्म-संसार दोनों को देख सकता है।[9] ब्रह्म और परमात्मा

---

1. परमात्मप्रकाश, 1/70
2. वही, 1/50-6
3. वही, 1/105
4. वही, 1/75
5. वही, 1/20
6. वही, 1/24
7. वही, 1/25, 16
8. वही, 1/35
9. वही, 1/41

में कोई अन्तर नहीं है, उनमें चारित्रिक समानताएं भी एक जैसी हैं, जैसे—पूर्ण ज्ञान और दर्शन।[1] परमात्मा विशुद्ध ध्यान गम्य है। उसे ज्ञान या बुद्धि से नहीं देखा जा सकता और न धर्मशास्त्रों (वेदादि) के अध्ययन से।[2] यही परमात्मा ब्रह्म, परब्रह्म, शिव और शान्तादि अनेक नामों से पुकारा जाता है।[3]

कर्म का स्वभाव—हम पहले कह चुके हैं कि कर्मों के बन्धन में पड़कर आत्मा अपना निज स्वभाव खोकर संसार भ्रमण करता है। आत्मा और कर्म एक-दूसरे को उत्पन्न नहीं करते फिर भी वे अनादिकाल से एक-दूसरे से संलग्न हैं।[4] राग-द्वेष के कारण आत्मप्रदेश में जो परमाणु बंधते हैं उन्हें कर्म कहते हैं।[5] कर्मों की संख्या आठ है (देखिए पीछे पृ० 45)। यही कर्म आत्मा के स्वभाव को स्पष्ट नहीं होने देते।[6] जब ये सभी कर्म-कलंक ध्यानाग्नि में भस्मीभूत हो जाते हैं तब आत्मा निर्मल और निर्विकार हो जाती है।

आत्मा और परमात्मा—आत्मा स्वतः को पहचानने के बाद दिव्य शक्ति, परमात्मा बन जाता है।[7] तात्त्विक स्वभाव की दृष्टि से आत्मा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं।[8] यद्यपि आत्मा शरीर के साथ रहता है तथापि वह शरीर से कभी एकाकार नही होता। जब आत्मा अपने को अष्टकर्मों से मुक्त करता है उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती, उतना आनन्द इन्द्र की करोड़ों अप्सराओं के साथ भी नही होता।[9]

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म—पीछे लिखा जा चुका है कि आत्मा का प्रारम्भिक विवेचन कठोपनिषदादिक ग्रन्थों में मिलता है। ब्रह्म को उपनिषदों में विश्वव्यापी या सर्वव्यापी माना गया है और अन्य आत्मा या जीवात्माएं उसी के अंशमात्र हैं। आत्मा-परमात्मा के एकत्व के प्रारम्भ के विषय में नहीं कहा जा सकता। आत्मा जगत के लिए उतना ही प्रधान है जितना कि ब्रह्म। अनेक स्थलों पर दोनों (आत्मा-ब्रह्म) एक-दूसरे के पर्यायवाची के रूप में आए हैं।[10] आत्मा

---

1. परमात्मप्रकाश, 2/99, 203
2. वही 1/23
3. वही 1/26, 71, 109, 116, 119 आदि
4. वही 1/59
5. वही 1/62
6. वही 1/61, 78
7. वही 2/174
8. वही 1/26, 175 आदि
9. वही 1/61, 118
10. वृहदारण्यकोपनिषद, 'स वायमात्मा ब्रह्म' (4-4-5)

परमात्मा के समान ही ध्यानगम्य है, इसके अतिरिक्त सब भ्रममात्र है। अविद्या के प्रभाव से प्रत्येक आत्मा अपने को स्वतन्त्र समझता है परन्तु वास्तव में हम सब ब्रह्म के अंश हैं, यह पूर्णतः सत्य है। आत्मा का न तो द्विधाभाव है और न अनेक भाव अपितु प्रत्येक जीवात्मा और ब्रह्म एक तथा समान हैं।[1] ब्रह्म उदारचेता और सर्वत्र विद्यमान रहने वाला है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। ब्रह्म सर्वशक्तिमान और विश्वनियन्ता है। ब्रह्म प्रारम्भ में वेद की शक्तिशाली ऋचा के रूप में माना जाता था, बाद में वह उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करने लगा जो विश्व को उत्पन्न, व्याप्त तथा नष्ट करती है। यद्यपि ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वह स्वतन्त्र, पूर्ण, अमर और सनातन माना गया है। इस प्रकार ब्रह्म ही आत्मा का वर्णन करने के पश्चात 'एष म आत्मान्तर्हृदयं एतद् ब्रह्म'—'वह मेरा आत्मा हृदकमल में स्थित है वही ब्रह्म है' इत्यादि वाक्य के साथ समाप्त होता है।[2]

परमात्मप्रकाश का परमात्मा और उपनिषदों का ब्रह्म—वेदों में 'ब्रह्म' शब्द अनेक बार आया है। उपनिषदों में ब्रह्म अद्वितीय सत्ता के रूप में माना गया है। जोगीन्दु ने इस 'ब्रह्म' शब्द को उपनिषदों से लिया है। परमात्मप्रकाश में ही कई स्थलों पर उन्होंने ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है।[3] जैन धर्म के प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र (वि० सं० 3/4 शती) ने ब्रह्म शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में किया है—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।'[4] उपनिषदों में परमात्मा शब्द का उतना प्रयोग नहीं हुआ जितना कि ब्रह्म शब्द का। चूंकि ब्रह्म और परमात्मा दोनों ही अन्ततः अन्तिम सत्य का अथवा मोक्ष का प्रतिनिधित्व करते है अतः दोनों को एक-दूसरे का पर्यायवाची माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जैन धर्मानुसार परमात्मा उच्चात्मा अथवा विशुद्धात्मा ही है। उपनिषदो के ब्रह्म का उद्देश्य सांसारिक है और परमात्मप्रकाश अथवा जैन धर्म के परमात्मा का उद्देश्य सांसारिक नहीं है अतः दोनों का विचार एक साथ नहीं जोड़ा जा सकता। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म एक है। परमात्मप्रकाशकार अनेक ब्रह्म या परमात्मा को मानते हैं। अनेक होने पर भी सभी के गुणधर्म समान होने के कारण उनमें कोई अन्तर नहीं होता।[5] उपनिषदों का ब्रह्म सर्वव्यापी और सर्वोत्पादक है जबकि जैन धर्म का परमात्मा कोई कार्य नहीं करता, उसे करने को कोई कार्य शेष नहीं रह

---

1. छान्दोग्य उप० सर्वं खल्विदं ब्रह्मं' (3-14)
2. वही, आत्मा का वर्णन
3. परमात्मप्रकाश 1/26, 71 आदि।
4. समन्तभद्र, बृहत् स्वयंभूस्तोत्र, 119
5. परमात्मप्रकाश 2/99

जाता। वह केवल देखता और जानता है चूंकि यह उसका स्वभाव है।

उक्त अन्तर होते हुए भी योगीन्दु ने भी उपनिषदिक ब्रह्म का समर्थन किया है। परमात्मपद के आकांक्षियों से वे 'अपील' करते हैं कि परमात्माओं में भेद न करें, वे एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं, उनके आदर्श समान हैं, पर ऐसी स्थिति जोइन्दु में नाममात्र को मिलती है। जैन धर्म संसार को भेद दृष्टि से देखता है और उसका आत्मा तपस्या द्वारा कर्मों का नाश कर परमात्मपद प्राप्त कर लेता है जहां संसार भ्रमण की अवस्था पूर्णतः रुक जाती है।

योगीन्दु के आत्मतत्त्व और उपनिषदिक आत्मतत्त्व की तुलना—

जैन आचार्यों की परम्परा के अनुसार ही योगीन्दु ने आत्मा का विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द (ई० प्र० शताब्दी) ने आत्मा के विषय में लिखा है, आत्मा एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर बसने वाला सूक्ष्मग्राही अस्तित्व है जो कि अनादिकाल से बन्धन में है। संसार अनन्त आत्माओं से भरा पड़ा है। प्रत्येक आत्मा के पुनर्जन्म का भाग्य इन कर्मों के ही आधीन रहता है। आत्मा पदार्थहीन है इसलिए पुद्गल कर्मों से भिन्न है। यद्यपि आत्मा की अनेक शरीरों में कल्पना कर ली गई है और आत्मा अपने सहयोगी के रूप में शरीर को अधिकार में रखता है तथा अजर-अमर है। आत्मा के आवागमन को अवरुद्ध करने के लिए परमात्म-पद की प्राप्ति अनिवार्य है। मुक्ति की अवस्था में आत्मा कर्म रहित, निष्कलंक और निर्मल होता है अतएव पूर्ण निर्मलता और स्वतन्त्रता को धारण करता है। आत्मा को उपनिषदों में तीन भागो में बांटा गया है जिसकी चर्चा हम पीछे कर आए हैं। जैन धर्म में आत्मा और पुद्गल दोनों ही यथार्थ हैं, आत्माए अनन्त हैं यहां तक कि मुक्तावस्था में भी वे स्वतन्त्र हैं। उपनिषद में आत्मा ब्रह्म का ही रूप है, इसके अतिरिक्त कुछ सत्य नही। भगवद्गीतादि में अच्छे-बुरे कामों को कर्म कहा गया है परन्तु जैन धर्म में यह एक सूक्ष्म तत्त्व पदार्थ है जो आत्मा से सम्बद्ध हो जाता है और उसे संसार के आवागमन चक्र में घुमाता रहता है। इन्हीं आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व को लेकर दो वाद खड़े हो गए। आत्मवाद और ब्रह्म-वाद को लेकर उपनिषदों में एक स्वतन्त्र 'अद्वैतवाद' का सिद्धान्त स्थापित हुआ। वेदान्त में आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्म-स्वरूप ही हैं।

परमात्मा का स्वरूप—योगीन्दु परमात्मा को अनादिदेव और उनका निवास मोक्ष में मानते हैं जिसे पुनः संसार में नहीं आना पड़ता।[1] जिन्होंने कि आत्मा को पहचान लिया है मोक्ष में ऐसी मुक्तात्माएं अनन्त हैं और वे पूज्य हैं।[2] तदोपरान्त अन्य तीर्थंकरों के समान ही अरहंत हैं जिन्होंने अपने घातिया कर्मों का नाश कर

---

1. परमात्मप्रकाश 1/4, 25, 33
2. वही, 1/2, 16, 29

मोक्ष प्राप्त किया है, जिनके उपदेश आधिकारिक रूप में ग्रहण किए जाते हैं।[1] अन्त में साधुओं के तीन वर्ग हैं जो परमात्मपद पाने के लिए घोर तपश्चरण करते हैं।[2] ये पंच परमगुरु पूज्य हैं।[3]

ईश्वरीयोत्पत्ति तत्त्व की व्याख्या—वैदिक काल में प्रकृति से होने वाली भयानक घटनाओं से त्रस्त अनुभवहीन और अस्थिर चित्त वाले लोगों का विश्वास हो गया था कि इसके पीछे कोई अदृश्य शक्ति अवश्य है अतः प्रकृति का भय ही वैदिक ईश्वर की उत्पत्ति का मूल कारण माना गया।[4] जैनों के परमात्मा विषयक सिद्धान्त पर पर्याप्त कहा जा चुका है। आत्मा से परमात्मा एक आध्यात्मिक विस्तार की श्रेणी है, कल्याण की प्रबल इच्छा रखने वाली प्रत्येक आत्मा का कर्तव्य है कि वह परमात्मा के स्तर तक पहुंचे। परमात्मा भगवान है पर उत्पत्ति कारक नहीं। परमात्मा आत्मा में गूढ़ (अप्रत्यक्ष) रूप से विद्यमान है। अतएव आत्मा परमात्मा के स्वभाव में ही पूज्य है जबकि उसकी पूर्ण शक्ति प्रकट होती है। परमात्माओं में कोई भेद नहीं परन्तु एक भक्त या साधक जबकि वह इस विस्तार का अध्ययन करता है, पहले मुनि वर्ग को ईश्वर तुल्य मानता है (जिन्होंने आत्म-सिद्धि हेतु ससार का त्याग किया है) द्वितीय गुरु को जो आत्म शिक्षा की दीक्षा देते हैं, तृतीय योगियों के संघाध्यक्ष को, चतुर्थ अर्हन्त को और फिर पंचम सिद्धों (जो पूर्ण विशुद्ध आत्मा हैं), को ईश्वरतुल्य मानता है। जैन धर्मानुसार प्रत्येक परिवर्तनीय समय में अर्हन्तों की संख्या 24 होती है। एक आत्मा बिना अर्हतत्व के सिद्धत्व प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक अर्हत् सिद्ध होता है लेकिन प्रत्येक सिद्ध अर्हत् नहीं होता। ये अर्हत् सिद्धादि संसार की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के लिए उत्तरदायी नहीं होते। उन्हें किसी प्रकार का उपहार चढ़ाने से किसी भक्त को कोई वरदान नही मिलता। भक्त मात्र उन्हें अपना आदर्श मानकर उनकी पूजा करता है।[5]

संसार और मोक्ष—योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है—पापों में वृद्धि होने के कारण आत्मा कर्मों के बन्धन में फंसकर संसार का भ्रमण करती रहती है और अपने वास्तविक स्वरूप को वह भूल जाती है।[6] कर्म समुदाय अनादि है, अनेक क्रूर कर्म आत्मा को पथभ्रष्ट करने में सहायक

---

1. परमात्मप्रकाश, 2/20, 168, 195 आदि
2. वही, 1/7
3. वही, 1/11
4. डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्रवचनसार, पृ० 93
5. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ० 36
6. वही, 1/77

होते हैं ।[1] आत्मा देव, मनुष्य, नरक और तिर्यन्च चतुर्गतियों में दुःख का अनुभव करता हुआ संसार में रहता है ।[2] कर्मों के कारण ही आत्मा की बिभिन्न दशाएं होती है, इन्ही के कारण सुख-दुःख की अनुभूति होती है ।[3] मोक्ष, निर्वाण अथवा मुक्ति कर्म-बेड़ी छूट जाने पर ही होती है, पुण्य पाप दोनों के नाश होने से मोक्ष प्राप्त होता है ।[4] मोक्ष लोक के शिखर पर है ।[5] मोक्ष आनन्दस्थल है, मोक्षगामी अनन्त दर्शन ज्ञानादि से युक्त होते है ।[6] परमात्मावस्था, निर्वाण प्राप्त करने पर संसार का नाश होता है अत मन सदैव आत्मा को स्थिर करने में लगाना चाहिए जो कि शक्तिरूपेण परमात्मा है । कर्मों को नष्ट करने के लिए तपश्चरण करने की महती आवश्यकता है ।[7]

संसार और मोक्ष आत्मा की दो अवस्थाएं हैं और गुणों में वे एक-दूसरे से विपरीत हैं । चूंकि संसार आवागमन चाहता है और मोक्ष उससे छुटकारे का नाम है । संसार आत्मा को कर्मबन्धनो मे फांसे रखकर उसे चतुर्गतियों का चक्कर लगवाता है, मोक्ष इसके ठीक विपरीत है । संसार दशा में आत्मशक्ति छिपी रहती है और मोक्षावस्था में स्पष्ट हो जाती है ।

मोक्ष मार्ग क्या है—जैन दर्शन मे मोक्ष प्राप्ति के उपाय विषयक उमास्वाति का 'तत्वार्थ सूत्र' जिसे मोक्ष-शास्त्र भी कहते हैं, ग्रन्थ है । उसमे लिखा है, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र तीनो ही मोक्ष मार्ग हैं,[8] परन्तु इनका युगपत् होना अनिवार्य है । वास्तव में यह व्यवहार-नय सम्मत मार्ग है, निश्चयनयानुसार तो आत्मा में तीनों गुण अन्तर्भूत हैं ।[9] सम्यग्दर्शन आत्मा के वास्तविक स्वभाव में विश्वास करने से होता है, 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा भी है ।[10] इसके परिणामस्वरूप विश्वव्याप्य परिणामो का ठीक-ठीक ज्ञान कराने वाला सम्यग्ज्ञान होता है ।[11] आत्मा की उस अवस्था में वह पदार्थों

---

1. परमात्मप्रकाश, 1/59, 78
2. वही, 1/9-10
3. वही, 1/63
4. वही, 2/63
5. वही, 5/63
6. वही, 2/3, 9, 11
7. वही, 2/23, 36, 38, 100, 141 आदि ।
8. उमास्वाति (मूल लेखक) तत्वार्थ सूत्र, 1/1
9. परमात्मप्रकाश, 2/12-4
10. तत्वार्थसूत्र, 1/2
11. परमात्मप्रकाश 2/15

(जैसे वे हैं) का ठीक-ठीक ज्ञान कर सकता है, और अन्त में उस आत्मा की सच्ची, पवित्र अवस्था का वर्णन आता है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानता है तथा दूसरों को पहचानता हुआ सांसारिक परिग्रहों को त्याग देता है—सम्यग्चारित्र है।[1] इन्हीं तीनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र) को रत्नत्रय भी कहते हैं, ये व्यवहारनय से मोक्ष मार्ग का निर्देश करते हैं। निश्चयनय से एक आत्मतत्त्व ही ध्यान करने योग्य है, जिसके परिणामस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।[2] आत्मा का जहां पर कर्म पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता वहां मोक्ष-मार्ग सर्वथा खुला है। कर्मों के क्षय के लिए साधना अथवा तपश्चरण की आवश्यकता होती है।

परमसमाधि—साधना करते-करते जब सम्पूर्ण मानसिक व्याकुलता समाप्त हो जाती है और साधक पुण्य पाप को भूल, कल्याणाकल्याण की स्थिति से ऊपर उठ जाता है, वही परमसमाधि है।[3] इस परमसमाधि के बिना योगाभ्यास या तपश्चरण तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन आत्मा को पहचानने में सहायक नहीं होगा।[4] इस परमसमाधि रूपी तालाब में डुबकी लगाने से आत्मा आवागमन के चक्र से बच जाती है।[5] ज्यों-ज्यों साधक समाधि में लीन होता है त्यों-त्यों कर्मों का आना रुकता जाता है और शेष कर्मों का नाश होता है।[6] समाधि के लिए बाह्याडम्बर से कार्य नहीं चलता। सफल समाधि में चक्षुओं का अधखुला रहना अथवा अधोमुख होना आवश्यक नही, वह तो बिना किसी अधोमुखता या व्यवधान के की जाती है।[7] परमसमाधि विकटाग्नि के समान है जिसमे कि तपस्वी लोग अपने कर्मरूपी ईंधन को डालकर प्रज्वलित करते हैं।[8] वहां पर समस्त आकांक्षाओं का निवारण होता है और विशुद्ध निरंजन दिव्यता झलकती है।[9] इस परमसमाधि के दो भेद हैं : अरहन्त और सिद्ध। अरहन्त ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों से रहित अनन्तज्ञानन्द से युक्त होता है। सिद्धावस्था में समस्त कर्मों का नाश हो गया रहता है और वही अनंतदर्शनादि अनंतचतुष्टय वृद्धिगत होता है तथा जिनका

1. परमात्मप्रकाश 2/29, 30
2. वही 2/31
3. वही 2/190
4. वही 1/14, 42 व 2/191
5. वही 2/189
6. वही 2/38
7. वही 2/169-70
8. वही 1/3, 7
9. वही 1/115

हरि, हर, ब्रह्मा और बुद्ध के रूप मे वर्णन होता है ।[1]

रहस्यवादी कल्पना—जैसा कि योगीन्दु की रचना का नाम (परमात्म प्रकाश) है वैसा ही उसका विषय भी। आत्मा के सम्बन्ध में लिखा है, जैसे आकाश में सूर्य का प्रकाश अपने और पर को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा अपने को और पर पदार्थों को प्रकाशित करता है। जो निज शुद्धात्मा का ध्यान करता हुआ उसी में सुख मानता है वह सुख तीनों लोकों में प्राप्य नहीं।[2] आत्मज्ञान होने के कुछ क्षणोपरान्त ही साधक के सामने एक महान् ज्योति जगमगाती है जिसे आत्मज्ञान की ज्योति कहते हैं, उसमें समस्त संसार का प्रतिबिम्ब झलकता है।[3] जिस प्रकार हंसो का निवास झील के पृष्ठ भाग में होता है उसी प्रकार महान देवत्व ज्ञानियो के विशुद्ध मस्तिष्क में देखा जाता है।[4] परमात्मा सूर्य के प्रकाश के समान जगमगाता है।[5]

रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएं—शासकीय अथवा राजनैतिक रहस्यों का प्रकट करना उतना आसान नहीं। ठीक इसी प्रकार रहस्यवाद की व्याख्या करना भी कठिन है। प्रो० रानाडे के अनुसार "यह (रहस्यवाद) मन की उस अवस्था को बतलाता है जो सीधे और प्रथम हाथ में ही निर्विकार परमात्मा का साक्षात्कार कराती है। यह भाग्य की व्याजोक्ति (आइरनी ऑफ फेट) है।"[6] इसमे प्रत्येक रहस्यवादी अपने अनुभवों, विषयक चेतना और पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करता है।[7] रहस्यवादी व्यक्तित्व में स्वतन्त्रता है, 'मुक्ति और ज्ञान के साथ उच्चता प्राप्त यह सदैव आनन्द के साथ बढ़ते देखा गया है। 2. रहस्यवादी की पूर्ण जानकारी के लिए इसे एक आध्यात्मिक जानकारी की आवश्यकता होगी और एक ऐसी आत्मा की आवश्यकता होगी जो ज्ञान-सुख से पूर्ण और परमात्मपद पाने योग्य हो। 3. रहस्यवाद, यदि धार्मिकता और आध्यात्मिकता का अंग हो तो धार्मिक सिद्धान्त को ध्येय और ध्याता के मध्य एकत्व स्थापित करने वाले मार्ग का उद्घाटन करना आवश्यक है। 4. रहस्यवाद सांसारिक प्रलोभनों के सम्बन्ध में उदासीनता दिखाता है। 5. रहस्यवाद, सांसारिक ज्ञान के साधन मन और इन्द्रियों के बिना ही पूर्ण सत्य को जान लेने वाले तत्त्व को प्रदान करता है।

---

1. परमात्मप्रकाश 2/195, 201 आदि
2. वही, 1/101, 116 आदि
3. वही, 1/104, 100
4. वही, 1/122
5. वही, 1/119
6. प्रो० रानाडे, 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र', भूमिका, पृ० 1
7. पं० परशुराम चतुर्वेदी, 'रहस्यवाद', पृ० 12

6. धार्मिक रहस्यवाद में आदर्श की विधि, नैतिक सिद्धान्तादि कुछ नियम आवश्यक होते हैं, जो एक आस्तिक को पालने चाहिए। 7. रहस्यवाद में गुरु के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, चूंकि गुरु बिना उसका मार्ग कौन निर्दिष्ट करेगा ? गुरु की सहायता के बिना अन्य शास्त्रों की भांति ही रहस्यवाद को नहीं समझा जा सकता।[1]

जैनधर्म में रहस्यवाद सम्बन्धी विशेष सामग्री—ईश्वरवादियों के अद्वैतवाद की अपेक्षा, अद्वैतवाद और ईश्वरवाद रहस्यवाद के सैद्धान्तिक आधार का अधिक पता देते हैं। श्रेष्ठ अनुभव की दशा में आत्मा किसी दैवी शक्ति के साथ समानता स्थापित करता है। विलियम जेम्स का कहना है, 'मन की रहस्यमयी वृत्तियां प्रत्येक मात्रा में सदा नही तो प्राय: अद्वैतवाद को कहती हैं जैसा कि इतिहास से पता चलता है।'[2] इस प्रकार रहस्यवाद में अद्वैतवाद का विशेष स्थान है और वेदान्त मे जैसा कि हम देख चुके हैं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मम्'।[3] ज्ञानदेव का आध्यात्मिक रहस्यवाद-द्वैताद्वैत को मिला देता है, दोनों ही एकत्व अनेकत्व अनुभव सिद्ध हैं।[4] जैन रहस्य-वाद दो तत्त्वों पर आधारित है—आत्मा और परमात्मा, जिनका हम ऊपर अध्ययन कर चुके है। परमात्मप्रकाशादि के विवेचन से पता चला कि परमात्मा भगवान है, सृष्टिकर्ता नहीं। डॉ० ए० एन० उपाध्ये का मत है कि ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता भाग कोई ज्या नही है और न रहस्यवाद ही है।[5] एक रहस्यवादी आत्मा के बन्धन स्वरूप कर्मों का नाश करके आत्मा से एकता स्थापित करता है जहां कि ध्येय और ध्याता का विकल्प नही रह जाता—

"....ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्पवस भेद न जहां।
चिद् भाव कर्म चिदेश कर्त्ता चेतना क्रिया तहां।।[6]

जैन धर्म में आत्मा का ब्रह्म में लीन होना स्वीकार नहीं किया गया है वरन् यह स्वीकार किया गया है कि आत्मा का सीमित व्यक्तित्व उसमें सम्भावित परमात्मा का अनुभव करता है। आत्मा के विकासक्रम को जानने के लिए कम्मपयडि, कसायपाहुड़ कम्मपाहुड़ और गोम्मडसारादि प्राचीन ग्रन्थों में चौदह गुण स्थानों का विवेचन किया है। यह मोक्षमार्ग की श्रेणी है। कर्मों को क्षय करता हुआ जीव

---

1. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ० 39
2. वही, प्रस्तावना, पृ० 39 से उद्धरित
3. छान्दो० उ० 3/14
4. प्रो० रानाडे 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र', पृ० 179
5. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना, पृ० 39
6. दौलतराम कृत छहढाला, छठवीं ढाल

कितने समय में कितना ऊंचा जाता है इस सबका साधार विवेचन मिलता है। वह सब यहां विवेचित करना अपेक्षित नहीं है। आत्मसाक्षात्कार करने वाले साधकों को निर्देश होता है कि वे किन्हीं तान्त्रिक सिद्धियों में अपना समय नष्ट न करें अपितु वहां तक बढ़ते जायें जहां तक कि आत्मसाक्षात्कार न हो जाय। जैन धर्म में ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अवधिज्ञान होता है जिसे किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता, यह स्वत: होने वाला ज्ञान है। द्वितीय मन:पर्ययज्ञान जो यान्त्रिक ज्ञान के समान है और दूसरे के मन की बात को जान लेता है। तृतीय और अंतिम ज्ञान की अवस्था *केवल ज्ञान की अवस्था है। केवल ज्ञान जो साधक मोक्ष के* निकट होते हैं, उन्हें होता है और जिनका कि ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट हो जाता है। जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है अतएव तपस्या प्रधान है, उसमें तपस्या सम्बन्धी नियम अत्यधिक कठोर हैं। जैन मुनि को एकल विहारी होना निषेध है क्योंकि अकेला रहने से कही भी वह सांसारिक प्रलोभन में लुभा सकता है। एक मुनि अपने समय का अधिकांश भाग अध्ययन और ध्यान में बिताता है और प्रतिदिन अपने अपराधों को गुरु के समक्ष निवेदित करता है, गुरु जैसा प्रायश्चित्त बताते है शिरोधार्य करता है, उनसे आत्मविद्या या आत्मज्ञान का पाठ सीखता है। महानुभावी साधु एवं तीर्थंकर जो परमात्मपद का अनुभव करते हैं मुनियों के महानादर्श गुरु होते हैं। उनके वचन आधिकारिक तथा मान्य होते हैं।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनधर्म में रहस्यवाद के सभी आवश्यक अंग पाये जाते हैं। रहस्यवादी कल्पनाए वास्तव में अनुभव की चीज हैं, उनका विवेचन ज्ञान द्वारा नही किया जा सकता।[2]

रहस्यवादी उक्त कल्पना की झलक योगीन्दु ने प्रकाश के स्वभाव के रूप में की है। अन्यत्र भी इस प्रकार के अनुभव पाये जाते हैं। निष्कर्षात्मरूप से यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त कठोर नियम जो जैन साधु को निर्धारित किए गए हैं उनमें जैन रहस्यवाद के लिए यह अनुमति नहीं है कि वह तांत्रिकवाद जैसे निम्न स्तर पर पहुंचे।[3] इसका मुख्य कारण यह है कि जैन रहस्यवाद में सिद्धों की तरह अश्लीलता नहीं आई, पंचमकार (मद्य, मांस, मधु आदि) से बचे रहे। दूसरे जैन-कवियों में हठयोग और कुण्डली जागरण की वे प्रक्रियाएं नहीं हैं। व्रत और कृच्छ तप अवश्य हैं। नारी पूजा का रूप जैन रहस्यवाद में भी है, प्रतीक पद्धति पर संयमश्री और कल्याणकामिनी के परिणय की बात यहां भी पाई जाती है।

---

1. मूलाचार, चारित्रसार, नियमसार, प्रवचनसारादि ग्रंथों में पर्याप्य विवेचन है।
2. परमात्म प्रकाश, प्रस्तावना, पृ० 40
3. वही

पद्मावती, चक्रेश्वरी, सरस्वती और अम्बिका आदि शासन देवियों के रूप में पूजी गईं।[1] प्रतीक पद्धति पर मयण पराजय जैसी अनेक रचनाएं जैनों के यहां प्राप्य हैं।[2] जैन साधुओं के लिए एक आचार संहिता है—उन्हें मर्यादित रहना होता है अतएव उनका रहस्यवाद भी उन्हीं के अनुरूप है। वे जादू-टोने जैसी चमत्कारिक विधि का भी प्रयोग नहीं कर सकते।

परमात्मप्रकाश के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक अंश—जैन धर्म में मुख्यतः 'जीवाजीवास्रवबधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्' जीव, अजीवादिक सप्ततत्व माने गए हैं।[3] जीव-अजीव तत्वतः एक दूसरे से भिन्न है।[4] विशुद्ध जीव इन्द्रियों और मन से रहित है, यह धर्माधर्म, आकाश, कालादि से भिन्न है, इसमें ज्ञान और चेतनता की अनन्तता है।[5] आत्मा अष्टकर्मों के बन्धन में अनादि काल से चली आ रही है, वे कर्म ही अचेतन वर्ग का पूर्ण पदार्थ प्रस्तुत करते हैं।[6] सांसारिक जीव के दो भेद है, एक मिथ्यादृष्टि दूसरा सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों से छुटकारा पा चुका है अतः शुभ है और आत्मा से आत्मा को पहचानता है। मिथ्या दृष्टि जीव कर्मबन्धन में फंसकर संसार भ्रमण करता है।[7] जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश षड्पदार्थों पर त्रैलोक्य आधारित है, इन पदार्थों का आदि अत कुछ नही है। जीवमात्र की संज्ञा चेतन है, शेष सब अचेतन हैं। धर्माधर्म शरीर की क्रियाशीलता और अस्थिरता के सहायक कारण हैं। आकाश सभी पदार्थों को स्थान देता है। काल या समय का निर्धारण गतिशीलता से किया जाता है, यह परिवर्तन का सहायक कारण है, जब पदार्थ स्वयं परिवर्तन करते हैं तब उनका यह सहयोगी बनता है। धर्माधर्म और आकाश स्वतन्त्र हैं और अपने में पूर्ण हैं। जीव और पुद्गल ही क्रियाशील हैं। आत्मा, धर्म और अधर्म असंख्य अवकाश घेरते है, आकाश जो कि समस्त पदार्थों को स्थान देता है अनन्तावकाश घेरता है, जबकि पुद्गल अनेक प्रकार के परमाणुओं से बना है। पुद्गल संसार में भ्रमण करने वाली मूर्तिमान आत्माओं के कार्यों में संलग्न रहते हैं।[8]

पुण्य और पाप की व्याख्या—परमात्मा पुण्य और पाप से ऊपर है।[9] पुण्य के

---

1. डॉ० प्रेमसागर, जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, भूमिका, पृ० 15
2. मयणपराजय, सं० डॉ० हीरालाल जैन, प्रकाशित 1962 ई०
3. तत्त्वार्थ सूत्र, सं० पन्नालाल धर्मालंकार, अ० 1/4
4. परमात्मप्रकाश, 1/30
5. वही, 1/31, 2/18
6. वही, 1/55, 59, 62 आदि
7. वही, 1/77, 78
8. वही, 2/64, 71
9. वही, 1/21

प्रभाव से भक्ति द्वारा देवत्व, आध्यात्मिकता और साधुता प्राप्त होती है। पाप के फलस्वरूप घृणादि ही मिलती है।[1] पुण्य-पाप दोनों के साथ समान व्यवहार करने से कर्म का प्रवाह रुक जाता है। योगीन्दु एक का अनुसरण करने को मूर्खता कहते हैं।[2] अन्ततः पुण्य पापमय है अतः इससे भी मोक्ष नहीं होता।[3] पाप पशु-गति और नरक का प्रतिनिधित्व करता है, पुण्य स्वर्ग का प्रतिनिधि है, दोनों से मानव सृष्टि होती है। जब दोनों पुण्य-पाप विनष्ट हो जाते हैं, निर्वाण प्राप्त हो जाता है।[4] पुण्य और पाप में, पाप की ही प्रधानता है। पुण्य के द्वारा मिला हुआ आनन्द अन्ततः दुःख में बदल जाता है।[5] मनुष्य का ज्ञान पुण्य और पाप से जब ऊपर उठ जाता है तब वह आत्मा का विशद प्रकाशन करता है, जहां कि समस्त बंधनों का नाश होता है।[6] मन, वचन और काय की क्रिया से संसार के प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, जिससे कर्म परमाणु आत्मा में फैलते हैं। यह प्रवाह शुभ या मंगलकारी होता है तो पुण्य कर्मों का उदय होता है, यदि अशुभ या अमंगलकारी होता है तो पाप कर्म का उदय होता है। जब पुण्य और पाप वर्तमान है तो इसका मतलब है कि वहां कर्म विद्यमान हैं। अतः साधक जिसका कि कर्मों से छुटकारा पाकर परमात्मा बनने का उद्देश्य है, वह पुण्य से संलग्न होने के कारण पूरा नहीं हो पाता। मोक्ष की उत्कंठा रखने वाले को पुण्य-पाप दोनों से ऊपर उठना होगा।[7]

ज्ञान का महत्त्व—आत्मा ज्ञान का मूर्तिमान है जो परमात्म प्रदेश में तेजस्वी के समान चमकता है। ज्ञान आत्मा का गुण (डिफरेन्टिया) है।[8] आत्मज्ञान होने से प्रत्येक वस्तु का बोध हो जाता है, इस प्रकार आत्मा ज्ञानशक्ति से पहचाना जाता है।[9] अज्ञान ज्ञानस्वरूप परमात्मा को कभी नहीं जान सकता।[10] जिस प्रकार पानी में तारों का प्रतिबिम्ब झिलमिलाता है उसी प्रकार परमात्मज्ञान में विश्व झलकता है।[11] निःसंदेह ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, आत्माएं ज्ञान शून्य होने

1. परमात्मप्रकाश, 2/61, 62
2. वही, 2/37, 53
3. वही, 1/60
4. वही, 2/63
5. वही, 2/56-7
6. वही, 2/64, 71
7. वही, प्रस्तावना, पृ० 42
8. वही, 1/15, 33, 58
9. वही, 1/103
10. वही, 1/109
11. वही, 1/102

के कारण दीर्घावधि तक संसार भ्रमण करती रहती हैं। मोक्षस्थल बिना ज्ञान के उपलब्ध नहीं होता जैसे पानी के बिना मथे हाथ कभी गीला नहीं होता।[1] मोह ज्ञान से उसी प्रकार दूर भागता है जिस प्रकार सूर्य से अंधकार। ज्ञानवान आत्मा एकाग्रता के लिए सर्वोच्च पदार्थ है, जो पन्ना को जानता है वह शीशे के टुकड़े पर कभी ध्यान नहीं देता।[2]

कर्मफल का स्वरूप—जब अनेक कर्म पक कर तैयार होते हैं, फल देते हैं। जब कर्मफलों का उपभोग किया जाता है वह पाप-पुण्य के रूप में नए कर्मों का बन्ध करते हैं। उत्तम साधक कर्म फल का अनुभव करते हुए उनमें कोई आसक्ति नहीं रखता, अतएव नए कर्मों का बन्ध नहीं होता और पुराने कर्म नष्ट कर दिये जाते हैं।[3]

साधक की विशेषताएं—साधक की सबसे बड़ी विशेषता है सभी ओर से अनासक्त होना। यह शरीर जो स्वभाव में आत्मा से पूर्णतः भिन्न है, योग्यता की समालोचना मात्र है।[4] यह अपवित्र और आसानी से नष्ट होने वाला है, जब यह चिन्तित होता है तो मुर्झा जाता है और जब जलता है भस्म हो जाता है अतः इसकी परिचर्या, साज-सज्जा व्यर्थ है।[5] शरीर अपने साथ कोई प्रसन्नता नहीं लाता, दुःख अवश्य लाता है अत साधक ज्ञानी शरीर से पूर्णतः निर्लिप्य रहता है।[6] सांसारिक सारे आकर्षणों से विरत होना चाहिए और आत्म स्वभाव में लीन हो जाना चाहिए।[7] समस्त अन्तर्बाह्य परिग्रह मां, भाई, बहिन आदि निश्चय नय से आत्मा को उसके निज स्वभाव से भटकाने वाले होते हैं।[8] परिग्रह को एक बार छोड़ने के बाद दुबारा ग्रहण करना, थूक कर चाटने के समान है। मूढ़तावश आत्मा परिग्रह का अनुसरण कर संसार चक्र में फंसती है।[9] जब अपना शरीर ही अपना नहीं तो अन्य परिवारादि अपने कैसे हो सकते हैं। आत्मा को छोड़कर शरीर, मंदिर, धर्मशास्त्र, यौवन, गृह सभी अनित्य हैं और आत्मा की अपेक्षा कोई किसी

---

1. परमात्मप्रकाश, 2/73-4
2. वही, 2/76, 78
3. वही, 2/79, 80
4. वही, 1/13, 71
5. वही, 2/147-48
6. वही, 2/151-53
7. वही, 1/15, 18
8. वही, 1/83, 2, 87
9. वही, 2/91, 122

से संलग्न नहीं है।[1] आध्यात्मिक साधक को राग का त्याग करना सर्वोच्च साधना है, अतः मन को राग से बचाना चाहिए तथा परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[2] समभाव की स्थिति जो मोक्षमार्ग का प्रतिनिधित्व करती है राग-द्वेष को छोड़ने पर आधारित है।[3] यदि राग को नहीं छोड़ा गया तो यह आत्मा के प्रति छल होगा। समभाव की स्थिति एक आनन्द का स्रोत है और यह यथार्थज्ञान से उत्पन्न होती है। जो इस स्थिति में डूब चुका है उसे प्राणिमात्र एक समान है,[4] यहां तक कि एक व्यक्ति का परिवार जिसमें आपस में समानता न हो तो हानिप्रद है।[5] इन्द्रिय सुखों का योग कर्मबन्ध का कारण है। जब मस्तिष्क विषय-वासनाओं से भरा हो वहां ब्रह्म को कोई स्थान नहीं चूंकि एक म्यान मे दो तलवारें नहीं आ सकतीं।[6] संसार के समस्त पदार्थ विनष्ट हो जाते हैं अतः आत्मा का उनसे क्या राग ?[7] पंचेन्द्रिय रूपी जहाज आनन्दानुभव के बाद आत्मद्वार को खटखटाता है।[8] एक महान साधक को इन्द्रिय सुख से न तो राग होना चाहिए और न द्वेष ही। इन्द्रिय सुख से और मन की उत्कंठा से आत्म-परिचय नही किया जा सकता।[9] यह शरीर व्यर्थ है। धर्म का बाह्य और यथार्थ रूप में आचरण करना ही शरीर का लक्ष्य होना चाहिए।[10] मन अपने आधीन और भावशुद्धियुक्त होना चाहिए।

इस प्रकार परमात्मप्रकाश के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने से ग्रन्थ के रहस्यवादी होने में संदेह को कोई अवकाश नहीं रह जाता।

योगसार

परमात्मप्रकाशकार ही योगसार के रचयिता है। योगसार का प्रधान विषय परमात्मप्रकाश के समान ही है, अतः उसका विशद विवेचन यहां अपेक्षित नही है। लेखक ने बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुए परमात्मा के ध्यान पर जोर दिया है। पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों के त्याग का आदेश

---

1. परमात्मप्रकाश, 2/144-45, 129-32
2. वही, 1/32 आदि
3. वही, 2/52, 80, 81 आदि
4. वही, 2/90, 43, 105
5. वही, 2/109
6. वही, 1/62, 121
7. वही, 2/112
8. वही, 2/136
9. वही, 2/156
10. वही, 3/133, 34

दिया है, जीव पुण्य से स्वर्ग को पाता है और पाप से नरक का वास। जब वह दोनों से विरक्त हो जाता है तब शिव वास प्राप्त करता है—

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावएं णरयविवासु ।
वे छंडिवि अप्पा मुठाइ तो लब्भइ सि-थासु ॥32॥[1]

जोइन्दु ने सब देवताओं में एक ही तत्व की प्रधानता देखी थी, अतः वे कहते हैं, वह शिव-शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा सब कुछ है और वही अनंत-सिद्ध है—

सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध ।
सो जिणु इंसरू बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥105॥[2]

लेखक का कहना है कि जो आत्मा को आत्मभाव से जानता है और जो परभाव को छोड़ देता है, वह शिवपुरी को जाता है।[3] लेखक ने निश्चय और व्यवहार जिन दो नयों से अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है, वहां निश्चयनयानुसार अथवा यथार्थ मे आत्मा ही को सब कुछ सिद्ध किया है। आत्मा के विषय में लिखा है—

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ॥ 81 ॥

अर्थात् आत्मा को ही दर्शन और ज्ञान समझो, आत्मा ही चरित्र है, आत्मा ही संयम, शील, तप और प्रत्यख्यान भी है।[4] योगसार के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है।

आणंदा

जैन रहस्यवादी कृतियों में महात्मा आनन्दतिलक की आणंदा (आनंदा) नामक रचना भी कुछ ही समय से प्रकाश में आई है। यद्यपि इसका अभी पूर्णतः उद्धार नहीं हो सका है तथापि कुछ सहृदयों का ध्यान इधर खिंचा है। प्रो० हरिवंश कोछड़ ने आनंदा-आनंदस्तोत्र करके इसकी संक्षिप्त सूचना दी थी।[5] रचना के

1. योगसार, पृ० 378
2. वही, पृ० 394
3. वही, दोहा 34, पृ० 378
4. वही, पृ० 389
5. प्रो० हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 283

नाम और समय के विषय में भी अभी निश्चित नहीं हो सका है। श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने अपने एक लेख में रचना का नाम 'आणंदा' और उसके रचयिता का नाम 'आनंदतिलक' बतलाया है तथा समय भी 12वीं शती निश्चित किया है।[1] इस विषय में अगरचन्द नाहटा ने एक लेख में कासलीवाल जी से भिन्न मत व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "जहां तक रचना के नामकरण का प्रश्न है इसमें आने वाले 'आणंदा' शब्द के पुनः-पुनः आने के कारण ही किसी लेखक ने यह नाम लिख दिया है, कर्ता के नाम के साथ इसका सम्बन्ध नहीं, न रचयिता ने इसका यह नाम रखा होगा।"[2] नाहटा जी ने रचनाकार का नाम 'महाणंद देउ' निम्न प्रमाण के साथ बतलाया है—

आरम्भ— चिदाणंद साणंद जिण, सयल सरीस हसो (इ)
महाणंदि सी पूजायइ, आणंदा गगन मंडल थिर होइ ।। आ० 1 ।।

अंत— महाणंदि इ इ वालियउ आणंदा जिणि दरसाविउ भेउ—
··················महाणंदि देउ। आणंदा ।। 41 ।।

जणिउ भणइ महाणंदि देउ
जाणिउ णाणह भेउ
करिसि·········आणंदा ।। 42 ।। समाप्त: ।।

रचनाकाल के विषय में 13वीं या 14वीं शताब्दी माना है। ग्रन्थ की भाषा नाहटा जी ने राजस्थानी मानी है और कासलीवाल जी ने अपभ्रंश भाषा सिद्ध की है। डॉ० प्रेमसागर ने आनन्दतिलक कृत आणंदा नाम की एक मुक्तक रचना का उल्लेख किया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में होने का भी उन्होंने संकेत किया है जिसमें 44 पद्य हैं। भाषा की दृष्टि से डॉ० प्रेमसागर ने रचना को 14वीं शताब्दी का माना है।[3] कुछ समय पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी में डॉ० वासुदेव सिंह ने 'आणंदा' शीर्षक से एक छोटा-सा लेख और उसके साथ सम्पूर्ण 'आणंदा' के पद्यों को भी प्रकाशित कराया है।[4] रचना की भाषा के सम्बन्ध में आप पूर्णतः कासलीवाल जी से सहमत हैं। रचना

---

1. वीरवाणी, पाक्षिक पत्रिका, वर्ष 3, अंक 14-15
2. वीरवाणी, वर्ष 3, अंक 21, पृ० 281-282
3. डॉ० प्रेमसागर जैन, जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति काव्य पर प्रभाव शीर्षक लेख, परिषद्-पत्रिका, पृ० 34
4. डॉ० वासुदेव शरण सिंह, आणंदा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी वर्ष 64, सं० 2016, अंक 1

के छन्द का उल्लेख करते हुए उन्होंने हिंदोला छन्द में रचना का होना निश्चित किया है और रचना से ही प्रमाण दिया है—

> हिंदोला छंदि गाइयइं आणंदि तिलकु जिणाउ।
> महाणंदि दश्वालियउ आणंदा। अवहुउ सिवतुर जाइं॥ 42॥

इस छंद में कवि ने स्वयं छंद के साथ ही रचना का नामोल्लेख भी किया है।

इस मुक्तक रचनात्मक ग्रन्थ को योगीन्दु कृत 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' और मुनि रामसिह कृत 'पाहुड़ दोहा' सदृश रहस्यवादी कृतियों की श्रेणी में रख सकते है। वस्तुत. इस ग्रंथ में आत्मतत्व का विशद और प्रभावकारी वर्णन मिलता है। ठीक योगीन्दु आदि की रचनाओं की शैली में ही कवि ने आत्मा की व्यापकता का वर्णन किया है। इसमें सहज समाधि, समरसीभाव, परमसमाधि, गुरु के महत्व और वाह्याचार के खडन आदि जैसे रहस्यवादी प्रमुख तत्वों की प्रधानता है। ग्रन्थ के विषय में डॉ० वासुदेव शरण सिह का कथन है, "बड़ी मार्मिक शैली मे कवि ने आत्मा की व्यापकता का वर्णन किया है, आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता को मान्यता दी है, बाह्याचार का खडन किया है, सहज-समाधि और समरसीभाव में निष्ठा व्यक्त की है, गुरु के महत्व को स्वीवार किया है, और परम समाधिरूपी सरोवर मे स्नान के द्वारा भवमल नष्ट करके आत्मा को परमानंद प्राप्त करने की मंत्रणा दी है।"[1] अब इस विषय में अधिक कुछ न कहकर परमात्मप्रकाश, योगसार, पाहुड़ दोहा और आणंदा के असाधारण साम्य रखने वाले पद्यों को प्रस्तुत करेंगे—

> णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमानन्द-सहाउ।
> जो एहुउ सो संतसिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ॥
> परमात्मप्रकाश ॥1॥17॥

> अपु णिरंजणु परम सिउ अप्पा परमाणंदु।
> मूढ़ कुदेवण पूजियइ, आणंदारे गुरु विणु भूलउ अंध।
> आणंदा ॥2॥

> देहि वसंतु वि हरिहर, विजं अज्ज विण मुणति।
> परम-समाहि-तवेण-विणु सो परमप्पु मणंति॥
> परमात्मप्रकाश ॥1॥42॥

> फरस रस गंध बाहिरउ सब विहुणउ सोई।
> जीव सरीरहं विणु करि, अणदा सेह गुरु जाणई सोई॥
> आणंदा ॥1·॥

---

1. डॉ० वा० श० सिह, आणंदा, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष : 64, पृ० 58-59.

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥
परमात्मप्रकाश 1॥19॥

वउ तउ संजम सीलु गुण, सद्य महव्वय भारू।
एक ण जाणई परमकुल, अणंदा भमीयइ बहु संसारु ॥
आणंदा ॥8॥

वय-तव संजम-मूल गुण, मूढ़हं मोक्ख ण वुतु ।
जाव ण जाणइ इक्क पर, सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ 29॥ योगसार ॥

गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारू ।
सो दरिसावइ अप्प परू आणंदा भव जल पावइ पारू ॥
आणदा ॥36॥

गुरु दिणयरू गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पापरहं पर परहं जो दरिसाबइ भेउ ॥ पाहुड़ दोहा ॥1॥

उक्त पद्यों से 'आणंदा' पर जोइन्दु आदि की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है और इसमें कोई संदेह नहीं कि 'आणदा' एक रहस्यवादी कृति है।

पाहुड़ दोहा

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम दो सार्थक शब्दों के गठन से बना है, पाहुड़ + दोहा । यहां दोहा शब्द जो ग्रंथ के नाम के साथ दिखाई पड़ता है वह उसके छंद का बोधक है।[1] यहां 'पाहुड़' शब्द विशेषार्थवाचक है, इससे उसकी व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है। जैन धर्म के विशेष विषय के प्रतिपादक ग्रन्थों के अर्थ में ही 'पाहुड़' शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] कुन्दकुन्दाचार्य (जिनको कि जैन लोग कलिकाल-सर्वज्ञ भी कहते हैं) के अधिकतर ग्रन्थ 'पाहुड' संज्ञाधारी ही है। कुन्दकुन्दाचार्य 84 पाहुड़ ग्रन्थों के कर्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं।[3] उदाहरणार्थ—दंसण पाहुड़, चारित्त पाहुड़, सुत्तपाहुड़, बोध पाहुड़, भाव पाहुड, मोक्खपाहुड़, लिंग-पाहुड़ और सीलपाहुड़ आदि उनके पाहुड़ ग्रंथ है। पाहुड़ का संस्कृत रूप 'प्राभृत'

1. पाहुड़-दोहा, सं० डॉ० हीरालाल जैन, पृ० 13 (भूमिका)
2. वही, पृ० 13
3. जैन सा० और इ० पर वि० प्र०, पृ० 89

होता है जिसका अर्थ उपहार या भेंट होता है।[1] प्राभृत का 'उपहार' अर्थ में जयसेन ने समयप्राभृत नामक ग्रंथ की टीका में प्रयोग किया है, 'यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किंचित् सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत् प्राभृतं भण्यते तथा परमात्माराधवपुरुषस्य निर्दोषपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतं।' (समय प्राभृत टीका)। यतिवृषभ ने प्राभृत का अर्थ अपने चूर्णि सूत्रों में निम्नलिखित रूप से किया है—'जह्मा पदेहि पुदं (फुडं) तह्मा पाहुडं'[2] अर्थात् जो पदों से स्फुट हो उसे पाहुड़ कहते है। जयधवला में प्राभृत का अर्थ वीरसेन स्वामी ने इस प्रकार किया है—'प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आमृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टेराचार्येविद्यावित्तवद्भिरामृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।[3] अर्थात् जो प्रकृष्ट तीर्थंकर के द्वारा आभृत प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो धारण किया गया है या व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परा से लाया गया है वह प्राभृत है। गोम्मटसार जीवकांड मे एक गाथा द्वारा पाहुड़ का अर्थ 'अधिकार' किया गया है—

> अहियारो पाहुडयं एमट्ठो पाहुडस्य अहियारो।[4]
> पाहुडपाहुडणामं होदित्ति जिणेंहि णिहिट्ठं ॥340॥

प्राभृत और अधिकार ये दोनों एक अर्थ के वाचक है। अतएव प्राभृत के अधिकार को प्राभृत प्राभृत कहते है, ऐसा जिनेन्द्र का निर्देश है।

गोम्मटसार जीवकांड में ही आगे चलकर पाहुड़ शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान किया गया है—

> अत्थक्खरं च पदसघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
> दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥347॥
> कमवण्णुत्तखड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि।
> णाणवियप्पे वीसं गथे वारस य चोद्दसयं ॥348॥[5]

अर्धाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृत प्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व ये नव तथा क्रम से एक एक अक्षर की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अक्षर समास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्य श्रुत के होते हैं। पर्याय और पर्याय समास के मिलाने से 20 रूप ज्ञानश्रुत के होते हैं। यदि ग्रन्थ रूप श्रुत की विवक्षा की जाय

1. पाहुड़ दोहा, पृ० 13
2. कसायपाहुड़ भाग-1, पृ० 386
3. वही, पृ० 325
4. गोम्मटसार जीवकांड, रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला, 1916 ई०, पृ० 130
5. वही, पृ० 132

तो आचारांग आदि 12 और उत्पाद पूर्व आदि 14 भेद होते हैं।

इस प्रकार शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों रूपों में पाहुड़ का अर्थ किया जा सकता है। डॉ० हीरालाल ने पाहुड़ का प्रभृत अर्थात् उपहार अर्थ मानकर, प्रस्तुत ग्रंथ के नाम का अर्थ 'दोहों का उपहार' किया है।[1] यदि प्रस्तुत ग्रंथ के नाम का अर्थ 'प्रकृष्टेन···प्राभृतम्' के अनुसार किया जाय तो वह भी अनुपयुक्त नही होगा। (1)

इस स्थल पर यह भी विचार कर लेना चाहिए कि ग्रंथ का नाम 'पाहुड़ दोहा' है अथवा 'दोहा पाहुड़'? इस रचना की दो प्रतियां प्रकाश में आई हैं जिनमें एक का नाम है पाहुड़ दोहा दूसरी का दोहा पाहुड़।[2] डॉ० हीरालाल जैन ने इसे पाहुड़ दोहा कहना उपयुक्त बताया है।[3] परन्तु डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने डॉ० हीरालाल के पूर्वोक्त कथन को महत्त्व नहीं दिया।[4]

विषय—उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ग्रन्थकर्त्ता मुनि रामसिंह हैं।[5] भारतवर्ष में प्राय: ऐसी महान् विभूतियों का जन्म होता रहा है जो मानव को भौतिकी एवं भोग की प्रवृत्ति से विरक्त होने का और आध्यात्मिकता से अनुरक्ति का उपदेश देते रहे हैं। ऐसे ही योगियों में से उक्त ग्रन्थकर्त्ता भी एक योगी थे। अत: ग्रंथ आध्यात्मिक[6] है और गूढ़वादी रचना है।[7] कवि या रचनाकार कर्म-काण्ड का विरोधी है। उसकी विशेषता है कि वह हर प्रकाशदाता अथवा आत्म-बोधक तत्त्व को गुरु मानता है—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जोदरसावइ भेउ ॥पा० दो० 1॥

अर्थात् वह जो कि स्वपर या अपनी आत्मा और पर की परंपरा का भेद विज्ञान करता है वह सूर्य-चन्द्रमा गुरु है। सच्चा सुख आत्मध्यान में है, यह इस प्रकार निर्दिष्ट है—

1. पाहुड़ दोहा, पृ० 13
2. परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० 61, सं० ए० एन० उपाध्ये, नई आवृत्ति 1937
3. पाहुड़ दोहा, पृ० 13
4. परमात्मप्रकाश, पृ० 62
5. पाहुड़ दोहा, पृ० 26
6. अपभ्रंश-साहित्य; हरिवंश कोछड़, पृ० 275
7. परमात्मप्रकाश, पृ० 62

जं सुहु विसय परंमुहउ णिय अप्पा झामंतु।
तं सुहु इंदु विणउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥3॥

अर्थात् जो सुख विषयों से परांगमुख होकर अपनी आत्मा के ध्यान में मिलता है उस सुख को करोड़ों देवियों के साथ रमण करने वाला इन्द्र भी नहीं पा सकता। उनका उपदेश है कि बाह्याचरण से मोक्ष सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता। बाह्य पदार्थ तो दुःख के ही कारण हैं। आत्मकल्याण न शास्त्र पठन से संभव है, न तीर्थाटन से और न तो देवालयों में मूर्ति पूजन से ही, क्योंकि—

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जो दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥161॥

देवालय में पाहन है, तीर्थ में जल और पुस्तकों में सर्व काव्य है। जो वस्तु पुष्पित या फूली फली दिखती है वे सब ईंधन हो जाएंगी। तीर्थाटन करके जो व्यक्ति अपने को पाप से मुक्त समझते है उनके लिए रामसिंह मुनि का कहना—

तित्थई तित्थ भमंतयहं कि ण्णहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भितरु किम हूव ॥162॥

एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ भ्रमण करने वालों को क्या फल हुआ अर्थात् कुछ नहीं। स्नान करने से बाह्य शरीर तो पवित्र हो गया पर अभ्यन्तर की क्या दशा हुई? वह ज्यों का त्यों बना रहा। इस प्रकार ग्रन्थकार इन सब चीजों को निरर्थक और आडम्बर मात्र समझता था। उपदेश की प्रवृत्ति होने के कारण उक्त दोहे के स्पष्टनार्थ उसी के आगे एक और दोहा लिखा है जिसे पुनरुक्ति दोष नहीं मानना चाहिए।

तित्थई तित्थ भमेहिवद धोयउ चम्म जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण ॥163॥

हे मूर्ख! तूने एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ भ्रमण किया और अपने चर्म को जल से धोया। परन्तु यह तो बता कि इस मन को जो पाप रूपी मल से मैला है, कैसे धोएगा? जो लोग मूंड़ मुड़ाकर ही अपने को योगी होने का दावा करते हैं उनके नाम कवि का संदेश है—

मुंडित मुंडिय मुंडिया। सिर मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥135॥

हे मुंडियों में श्रेष्ठ मुंडी। तूने सिर तो मुंड़ा लिया पर चित्त को नहीं मोड़ा। जिसने चित्त का मुंडन कर लिया उसने संसार का खंडन कर दिया। मूंड़ मुंड़ाने

और नग्न वेशधारी होने से मुनि नहीं हो सकते। उसी को निम्न दोहा में स्पष्ट किया गया है—

मुंड मुडाइवि सिक्ख धरि धम्महं वद्धी आस।
णवरि कुडंबउ मोलियउ छुडु मिल्लिया परास ॥153॥

मुह मुंडाकर शिक्षा ली और धर्म की आशा बढ़ी। परन्तु कुटुम्ब को तभी त्यागना चाहिए जब पराई आशा छोड़ दे।

णग्गत्तणि जे गव्विया विगुत्ता ण गणंति।
गंथहं बाहिरभिंतरिहि एक्कु इ ते ण मुयंति ॥154॥

जो नग्नत्व का गर्व करते है और वस्त्र धारण करने वालों को कुछ नही गिनते वे बाह्य और अभ्यतर परिग्रहों मे से किसी का भी त्याग नहीं करते। अर्थात् वे सच्चे मुनि नहीं। मुनि रामसिंह किसी भी दर्शन को श्रेष्ठ न बताकर, दर्शनो को एक प्रकार का धधा ही मानते है—

छहदसणधंधई पडिय मणहं ण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ तेण ण मोक्खहं जंति ॥116॥

षड्दर्शन के धंधे में पड़कर मन की भ्रान्ति न मिटी। एक देव उसके छ: भेद किए अत: वे मोक्ष नही पाते। ऐसा कहकर वे षड्दर्शनो में अभेद की स्थापना कर सबका लक्ष्य एक ही मानते है। इस प्रकार के उपदेशों से ही यह ग्रथ भरा पड़ा है। सभी उपदेश अत्यन्त सरल भाषा के दोहो मे निबद्ध हैं। ग्रंथ का अध्ययन करने से पाठक को कही भी ऐसा आभास नहीं होता कि ग्रन्थकार ने अपने भाषा-पाण्डित्य या विद्वत्ता को बतलाने की कही चेष्टा की है। यह हम पहले लिख चुके हैं कि उनकी शैली उपदेशक की शैली है। उनका उपदेश विशेषकर ढोंगी जनों के लिए अथवा दंभी साधुओं के लिए है जो अध्यात्म का गलत मार्ग अपनाते हैं। डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं, "उनका उपदेश खास कर उन मूर्ख व्यक्तियों को है जो बिना आत्मसंयम का अभ्यास किए व बिना आत्म कल्याण के सच्चे मार्ग को जाने 'जोगिया' बन जाते हैं।[1]

अलंकारो में, रूपक और उपमाओ का कवि ने अधिक प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ कुछ पद्य आगे प्रस्तुत किए जाते हैं—

---

1. पाहुड़ दोहा, भूमिका, पृ० 16

पंच बलछ ण रक्खियई णदणवणु गओ सि।
अप्पु ण जाणिउ ण वि परु वि एमइ पव्वइओ सि ॥44॥[1]

इस दोहे मे रूपक द्वारा इन्द्रियों और आत्मा का विवेचन कितने अच्छे ढंग से किया गया है। "तूने न तो पाच बैलों को रखाया और न नंदनवन में ही गया। न अपने को जाना न पर को, यों ही परिव्राजक बन गया।" यहां 5 बैलों से पंचेन्द्रियों और नंदनवन से आत्मा का अर्थ लिया गया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति आगे हिन्दी के साहित्यकार कबीर, जायसी आदि मे भी मिलती है जिसका विवेचन हम आगे करेंगे।

मूढ़ा सयलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ।
जीवहु जंत ण कुडि गइय इउ पडिछंदा जोइ ॥52॥[2]

हे मूर्ख ! यह सब कर्मजंजाल है, निष्कर्म कोई नहीं है। जीव जाता है पर उसके साथ कुटी नही जाती, इस उदाहरण को समझ। यहां देह को कुटी से संबोधित किया है।

देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ॥53॥[3]

हे जोगी ! देह रूपी देवालय मे जो शक्तियों सहित देव वास करता है, वह शक्तिमान शिव कौन है ? इस भेद को शीघ्र ही खोज।

करहा की उपमा कवि को अधिक प्रिय थी। इसका (करम-करहा का) प्रयोग दोहा संख्या 92, 111, 112, 113 और 190 आदि में किया है।

पाहुड़ दोहा के रहस्यवादी तत्त्व

पाहुड़ दोहा पर परमात्मप्रकाश और योगसार का पूर्ण प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। पाहुड़ दोहा में अनेक दोहे ऐसे हैं जिनको परमात्मप्रकाश और योगसार मे ज्यों का त्यों देखा गया है। विषय भी उक्त ग्रंथों का लगभग एक ही है। पीछे परमात्मप्रकाश का विवेचन करते समय जैन रहस्यवाद के मूलसिद्धान्तों का संकेत करते हुए, परमात्मप्रकाश के विभिन्न तत्त्वों का अलग-अलग विश्लेषण किया गया है, यहां उन्हीं अंशों पर विचार करना पिष्टपेषण होगा। अतः पाहुड़-

1. पाहुड़ दोहा, पृ० 14
2. वही, पृ० 16
3. वही

दोहा के रहस्यवादी अंशों को संक्षेप में देखना ही यहां हमारा उद्देश्य है।

पाहुड़ दोहा के रहस्यवाद पर विचार करते हुए डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं, "इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित् और चित्, देहदेवली, शिव और शक्ति, संकल्प और विकल्प, सगुण और निर्गुण, अक्षर, बोध और विबोध, वाम, दक्षिण और मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन और काल आदि ऐसे शब्द हैं, और उनका ऐसे गहनरूप में प्रयोग हुआ है कि उनसे हमें योग और तांत्रिक ग्रंथों का स्मरण आए बिना नही रहता।"[1] परन्तु इस स्थान पर यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उक्त मुनियों का रहस्यवाद एक भिन्न प्रकार का रहस्यवाद था। किन्तु अन्य रहस्यवादी काव्यो की भांति ही मुनि रामसिंह ने भी 'समरसता' पर जोर दिया है। एक स्थान पर वे कहते है कि मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से। दोनों समरस हो गए, पूजा किसे चढ़ाऊं?

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चढ़ावउं कस्स ॥[2]

पूजा किसे चढाऊ का प्रश्न ही स्वय एक उत्तर भी है। यहां यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मुनि रामसिंह आत्मा के ब्रह्म में विलीन होने वाले सामरस्य को नही मानते। जोइन्दु के समान इनकी आत्मा भी भेदकता को स्वीकार करती है और वही (आत्मा) शुद्ध होकर परमात्म पद धारण करती है। नीचे हम मुनि रामसिंह के आत्मा-परमात्मा विषयक दृष्टिकोण पर विचार करेंगे।

पाहुड़ दोहा में आत्मा का स्वरूप—मुनि रामसिंह आत्मा को नित्य और केवलज्ञान स्वभाव वाला मानते हैं। इनका कहना है कि यदि आत्मा को नित्य और केवलज्ञान स्वभाव वाला जान लिया, तो हे मूर्ख! इस शरीर के ऊपर अनुराग क्यों करता है?

अप्पाबुज्झिऊ णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ।
ता पर किज्जइ काई वढ तणु उप्परि अणुराउ ॥[3]

आत्मा, पुण्य, पाप आदि जो जड़ भाव है उनसे सर्वथा भिन्न है और चैतन्य स्वभाव वाला है। आत्मा वर्ण (काला, गोरा आदि) तथा दुबला, मोटा आदि भेदों से रहित है। ये भेद जड़ शरीर के हो सकते हैं, आत्मा के नहीं।[4] आत्मा को जोइन्दु

1. पाहुड़ दोहा, पृ० 17, भूमिका
2. वही, दो० 49
3. वही, दो० 22
4. वही, दो० 29, 30

के समान ही मुनि रामसिंह जरा, मरण और लिंगादि से रहित मानते हैं—

देहहि उब्भउ जरमरणु देहहि वण्ण विचित्त।
देहहो रोया जाणि तुहुं देहहि लिंगई मित्त।।

अर्थात् हे मित्र ! देह ही के रोग और देह ही के लिंग जानो। जरा मरण दोनों देह के हैं, और देह ही के विचित्त वर्ण हैं।[1] मुनि रामसिंह ने गुणों के निलय आत्मा के ध्यान करने पर जोर दिया है। आत्मा को दर्शन और केवल ज्ञानमय माना है।[2] आत्मा स्व-परप्रकाशक है। आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते है, जिस प्रकार कि अकेला सूर्य एक निमेष में घोर तम का विनाश कर देता है।[3]

पाहुड़ दोहा में परमात्मा और शिव का स्वरूप—जैन धर्मानुसार विशुद्ध आत्मा ही परमात्मा स्वरूप बन जाती है, इस बात को कई स्थानों पर बता आए है, ऐसे ही परमात्मा को मुनि रामसिंह ने स्वीकार किया है। आत्मा कर्मों के बन्धन में भटककर संसार भ्रमण करता है। कर्मों के भाव को यदि आत्मा माना जायेगा तो फिर परमपद नही मिल सकता, और भी संसार का भ्रमण करना पड़ेगा।[4] जो पुराने कर्मों का नाश करता है और नये कर्मों को आने नही देता वह परमात्मा हो जाता है—

कम्म पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
अणुदिणु झायइ देउ जिणु सो परमप्पउ होइ।।[5]

मुनि रामसिंह ने शिव का भी प्रयोग उक्त परमात्मा के ही अर्थ मे किया है। वह शक्तिमान शिव कौन है ?

जरइ ण भरइ ण संभवइ जो परि को वि अणंतु।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सो सिदेउ णिभंतु।

अर्थात् जो न जीर्ण होता है, न मरता है और न उत्पन्न होता है, जो सबके परे कोई अनन्त, ज्ञानमय, त्रिभुवन का स्वामी है, वही निभ्रान्त शिव देव हैं।[6] जो पुराने कर्मों का क्षय करता है और नये कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता तथा जो परम

1. पाहुड़दोहा, दो० 34
2. वही, दो० 67, 68
3. वही, दो० 75
4. वही, दो० 37
5. वही, दो० 193
6. वही, दो० 54

निरंजन को नमस्कार करता है, वह परमात्मा हो जाता है।[1]

मुनि रामसिंह ने अनेक स्थलों पर निरंजन को शिव कहा है, जो वर्णविहीन है, ज्ञानमय है, सद्भाव को मानता है, जो संत और निरंजन है, वही शिव है। उसी में अनुराग करना चाहिए।[2]

गुरु का महत्त्व—रहस्यवादियो मे गुरु का स्थान सर्वप्रमुख माना गया है। पाहुड़ दोहाकार गुणग्राह्यता के सिद्धान्त को मानने वालो में से थे, उन्हें जहां से भी प्रकाश मिले वही से ले लेने में किसी हीनता के अनुभव की आवश्यकता नही समझते थे। गुरु कौन हो सकता है ? इस विषय में उनकी निम्न धारणा थी—

गुरु दिणयरू गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥

अर्थात् जो स्व (आत्मा) और पर (शरीर) की परम्परा का भेद बतलाता है वह दिनकर गुरु है, हिमकिरण (चन्द्रमा) गुरु है, दीपक गुरु है और देव भी गुरु है।[3] उक्त कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिना गुरु के ज्ञान नही होता। मुनि रामसिंह किसी जन्म में भी अपने को गुरुविहीन नहीं देखना चाहते—

भवि भवि दंसणु मलरहिउ भवि भवि करउं समाहि।
भवि भवि रिसि गुरु होइ महु णिह्यमणुब्भदवाहि॥

अर्थात् भव भव में मलरहित सम्यग्दर्शन होवे, भव भव में समाधि करूं और भव भव में मन में उत्पन्न होने वाली व्याधि का हिनन करने वाला ऋषि मेरा गुरु होवे।[4]

---

1. पाहुड़दोहा, दो० 77
2. वही, दो० 38
3. वही, दो० 1
4. वही, दो० 210

जैन मुनि

विषय की दृष्टि से जैन और मुनि शब्द महत्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार शिव के उपासक शैव, विष्णु के उपासक वैष्णव और बुद्ध के उपासक बौद्ध कहलाते है, उसी प्रकार जिनदेव को मानने वाले जैन कहलाते है। 'जिन' ने जिस धर्म का कथन किया वह जैन धर्म कहलाता है। जिन शब्द का अर्थ होता है—जीतने वाला। जिसने समस्त इन्द्रियो को वश मे कर लिया है, जिसकी आत्मा निर्मल अर्थात् सम्पूर्ण विकारों से रहित है, वही जिन है। जैन धर्म में 'जिन' को अवतार रूप में नहीं माना गया है। वे तो स्वत: अपने तपोबल से काम, क्रोधादि विकारों को जीत कर 'जिन' बनते हैं। 'जिन' हमी प्राणियों से बनते हैं।[1] जैनधर्म में इस बात पर अधिक बल दिया गया है कि प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है।[2] जीवात्मा और परमात्मा में भेद इतना ही है कि प्रथम काम, क्रोध, लोभादि विकारों के कारण कर्मों से घिरा रहता है। फलत: अशुद्ध होता है और उसके अनन्त—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य जो कि उसके मूल और स्वाभाविक गुण हैं, प्रकट नही होते। जब वह इन्ही कर्मों की तप द्वारा निर्जरा (क्षय) कर देता है और नवीन कर्मों के आगमन द्वार को भी बन्द कर देता है तब उसकी आत्मा विशुद्ध होती है और परमात्मा कहलाती है, वही 'जिन' कहलाने योग्य भी है।

वाचस्पत्यभिधान कोश में जैन शब्द का अर्थ किया गया है, "जैन = पु० जिन एव, जिनो देवतास्य वा अण ।1। अर्हंति ।2। अर्हदुपासकं च।"[3] जैन धर्म, बौद्ध धर्म के समान वैराग्य प्रधान अथवा निवृत्ति प्रधान धर्म है। वह वेद की सत्ता स्वीकार नहीं करता। अतएव ब्राह्मण लोग उसे नास्तिक धर्म कहते हैं। जैन मंदिर विरागता के द्योतक होते हैं।[4] इस प्रकार 'जिन' से जैन बना। 'जिन' की अवस्था प्राप्त करने पर प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ अथवा त्रिकालिक विषयों का ज्ञाता होता है।

---

1. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन धर्म, पृ० 59
2. डॉ० ए० एन० उपाध्ये, परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृ० 35
3. वाचस्पत्यभिधानम कोश चतु० भाग, पृ० 3145
4. ई० आर० ई०, वाल्यूम 7, पृ० 465

परन्तु वह वीतरागी होता है। उसे किसी से राग-द्वेष नहीं रहता। जितेन्द्रिय वीतरागी सर्वज्ञ होकर वह जो उपदेश देता है वह प्राणिमात्र का कल्याणकारक होता है। उसके कथन में किसी प्रकार का कोई लगाव नही रहता। उस उपदेश का अनुगामी जैन होता है।

जैन आचार की नींव अहिंसा है। 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' तथा 'अहिंसा परमो धर्मः' जैनाचार के मूल मंत्र हैं। इन्ही मूलमंत्रों को जीवन में उतारने के लिए—अहिसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन और अपरिग्रह पाच व्रतों का विधान किया गया है।

जैन दर्शन में सात तत्वो का विवेचन है। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—जीव-अजीव दो द्रव्य है। इन दोनो का परस्पर सम्पर्क रूप आश्रव (कर्मों के आगमन द्वार) और मेल रूप बन्ध होता है जिससे जीव नाना प्रकार के सुख-दु:ख का अनुभव करता है। यदि इस सम्पर्क का अवरोध अर्थात् सवर कर दिया जाए और संचित कर्मों की धार्मिक क्रियाओ द्वारा निर्जरा (क्षय) कर दी जाय तो जीव को मोक्ष हो जाता है और उसे अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य) की प्राप्ति हो जाती है।[1]

जैन धर्म के प्रवर्तको को तीर्थकर की सज्ञा दी गई है। इनकी संख्या 24 मानी गई है। इनमे प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और अतिम तीर्थकर महावीर या वर्द्धमान है। चूकि भारतवर्ष का व्यवस्थित इतिहास बुद्ध और महावीर के समय से लिखा माना जाता है, इससे पूर्व का प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। अतएव जैन धर्म के दो अतिम तीर्थकरों (पार्श्वनाथ[2] ई० सं० पू० 800 और वर्द्धमान महावीर ई० स० पू० 527) को ही प्रामाणिक माना जाता है। चूकि इतिहास निर्माताओ को जैन साहित्य की उपलब्धि नही थी, अतः जो उपलब्धि उनके सामने थी उसी के आधार पर उन्होंने पार्श्वनाथ और महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक माना। परन्तु बात इससे भिन्न है। अब इस बात के काफी प्रमाण मिल चुके हैं कि जैन धर्म के आदि तीर्थकर और उपदेष्टा ऋषभदेव थे जो कि ऐतिहासिक पुरुष थे।

निराधार कल्पना से कुछ विद्वानों ने जैन धर्म को बौद्ध धर्म की एक शाखा समझ लिया था। नवीन अनुसंधानों द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से पृथक् धर्म तो है ही, इससे प्राचीन भी है। जैन-सूत्रों की प्रस्तावना में डॉ० हर्मन जेकोबी लिखते हैं, "इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो

---

1. सं० डॉ० हीरालाल जैन, तत्व समुच्चय, पृ० 13
2. डॉ० योकोबी—"That parswa was a historical person, is now admitted by all as very probable (sacred books of the east —Vol. XL-V Introduction pp. XXI-XXXIII.

वर्द्धमान अथवा महावीर के नाम से प्रसिद्ध हैं, बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते है कि नातपुत्त से पहले भी निग्रन्थों का जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्ध…अति प्राचीनकाल से निग्रन्थों का अस्तित्व चला आता है।[1] बिबिलोग्राफिया जैन की प्रस्तावना में डॉ॰ गैरीनाट लिखते हैं, "इसमें कोई संदेह नहीं है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे…महावीर से 250 वर्ष पूर्व निर्वाण को प्राप्त हुए। अत: उनका कार्यकाल ईस्वी सन् से 800 वर्ष पूर्व था। महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के धर्म को मानते थे।[2] डॉ॰ हर्मन जेकोबी ने पार्श्वनाथ को जैन परंपरा का संस्थापक न मानकर यह प्रमाणित किया है कि पार्श्वनाथ के पूर्व भी जैन परम्परा थी। वे लिखते है, "इस बात का कोई प्रमाण नही है कि जैन धर्म के संस्थापक पार्श्वनाथ थे। जैन परम्परा इस बात में एकमत है कि ऋषभदेव उस परम्परा के संस्थापक और प्रथम तीर्थंकर है। परम्परानुसार उन्हे तीर्थंकर मानने मे कुछ ऐतिहासिक सत्य हो सकता है।"[3] इसी बात को डॉ॰ राधाकृष्णन् ने दृढ़तापूर्वक लिखा है, "इस बात के स्पष्ट प्रमाण देखे जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी मे ऐसे व्यक्ति थे जो ऋषभदेव की प्रथम तीर्थंकर के रूप में पूजा करते थे। इसमें कोई सन्देह नही कि जैन धर्म वर्द्धमान या पार्श्वनाथ से भी पूर्व था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का नामनिर्देश है। भागवत् पुराण से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक थे।[4]

इस प्रकार जैन धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव थे और वे ही संस्थापक भी थे। काल क्रमानुसार तीर्थंकर जन्म लेते हैं और 'जिन' संज्ञा धारण कर जीवकल्याण की भावना से उपदेश देते हैं। उनके अनुगामी जैन कहलाते है। जैनों के आगे चलकर दो भेद हो गये—(1) श्वेताम्बर, (2) दिगम्बर। चूंकि श्वेताम्बरों के साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं अत: उनके आम्नाय वाले श्वेताम्बर जैन कहलाते हैं। दिगम्बरों के साधु नग्न अथवा निर्ग्रन्थ रहते हैं। अत: इनके पूजक दिगम्बर जैन कहलाते हैं। इन दोनों सम्प्रदायों के सैद्धान्तिक भेद अधिकांश चरित्राचार में हैं।[5] इस प्रकार मुख्य रूप से जैनों के दो भेद हो गये—(1) दिगम्बर, (2) श्वेताम्बर। इसे संघ भेद की संज्ञा दी गई। अब आगे हमें तीन बातों पर विचार करना है—

---

1. पं॰ कैलाशचन्द्र, जैन धर्म, पृ॰ 1
2. वही, पृ॰ 2
3. इंडियन एन्टीक्वाइरी, वॉल्यूम 9, पृ॰ 163
4. इंडियन फिलासफी वॉल्यूम 1, पृ॰ 187
5. ई॰ आर॰ ई॰, भाग 7, पृ॰ 435

(1) संघ भेद का कारण, (2) कौन मूल है कौन शाखा, (3) आपस में समानता-असमानता।

ऊपर हम देख चुके हैं कि जैन धर्म के मानने वालों के दो प्रमुख सम्प्रदाय बन गये थे। यदि हम उनके नामों को ध्यान से देखें तो दोनों की बाह्य भेदकता का पता लग जाता है। मूलतः मुनि को वस्त्र धारण करना चाहिए अथवा नहीं ? यही विवाद संघभेद का कारण बना। वैसे देखा जाये तो जैन तीर्थंकरों ने किसी विशेष सम्प्रदाय के लिए उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने तो सभी लोगों को आत्म-कल्याण का मार्ग बताया। भगवान् महावीर के 250 वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ हुए थे। उन्ही के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण महावीर भी कर रहे थे। इस प्रकार जैन संघ में कोई नया भेद नहीं था। संघ का भेद भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के समय (ई० 308) में माना जाता है। दोनों सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी प्राचीनता सिद्ध करते हैं। हम यहां दोनों की मान्यतायें प्रस्तुत करते हैं—दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बरो की उत्पत्ति के विषय में अनेक स्थलों पर विचार किया गया है। जैसे देवसेन ने अपने दर्शनसार में लिखा है, "विक्रम राजा की मृत्यु के 136 वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वलभीपुर नामक नगर मे श्वेताम्बरों के सघ की उत्पत्ति हुई ॥11॥ श्री भद्रबाहु गणि के शिष्य शाति नाम के आचार्य थे। उनका एक जिनचन्द्र नाम का शिथिलाचारी शिष्य था ॥12॥ उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि स्त्रियों को इसी भव में मोक्ष प्राप्त हो सकता है। केवल ज्ञानी (तपस्या के बाद पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब ज्ञानी को कुछ जानना शेष नहीं रह जाता—सभी बंधन छूट जाते है) भोजन करते हैं और उन्हें रोग होता है ॥13॥ वस्त्र पहनने वाला साधु भी मोक्ष पा सकता है। महावीर का गर्भ परिवर्तन हुआ था। जैन के अतिरिक्त अन्य लिंग (धर्म चिह्न) से भी मुक्ति हो सकती है तथा शुद्ध भोजन कही भी किया जा सकता है ॥14॥ उक्त बातों को दिगम्बर सम्प्रदाय कभी स्वीकार नही करता।

एक भिन्न देवसेन लिखते हैं जिसका सक्षेप निम्न प्रकार है—

उज्जैनी नगरी में भद्रबाहु नाम के आचार्य थे। वे निमित्तज्ञानी थे। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि एक परम दुर्भिक्ष होगा जो 12 वर्षों तक चलेगा। अतः सभी लोग भिन्न-भिन्न स्थानों को चले जायें।

शिष्यों ने ऐसा ही किया। परन्तु शान्ति नाम के आचार्य जिस वलभी नगरी में पहुंचे वहां भी अकाल पड गया। भूखे लोग दूसरों का पेट फाड़कर उसमें से भात निकालकर खा जाते थे। अतः इन साधुओं ने कम्बल, दण्ड, पात्र आदि के साथ श्वेत वस्त्र धारण किये। ऋषियों का आचरण छोड़ दिया। भिक्षावृत्ति धारण कर ली। पुनः जब सुभिक्ष हुआ तब शांति आचार्य ने अपने शिष्यों से कहा कि अब कुत्सित आचरण छोड़ दो और प्रायश्चित्त करके पुनः मुनियों का श्रेष्ठ आचरण करो। तब उनके प्रधान शिष्य ने कहा कि अब इस दुर्धराचरण को कौन धारण

कर सकता है ? उपवास, तरह-तरह के दुस्सह अन्तराल, एक स्थान, मौन, अचेलता (निर्वस्त्र), ब्रह्मचर्य, भूमि शयन, हर दो माह में केशलोंच (हाथों से ही केशों का उत्पाटन करना) करना आदि अनेक अत्यन्त कठोर आचरण हैं। इस समय हम लोगों ने जो आचरण अपनाया है वह इस लोक में सुखदायक है। इस पंचमकाल (जैन लोग 6 काल का युग मानते हैं) में हम उसे नहीं छोड़ सकते। इस पर शान्ताचार्य ने कहा कि चरित्र से भ्रष्ट जीवन अच्छा नहीं। यह जैन मार्ग को दूषित करता है। जिनवर भगवान् ने निर्ग्रन्थावस्था (नग्नवेश) को ही श्रेष्ठ कहा है—आदि उपदेश दिया। पर उस शिष्य ने अपने डण्डे से उनके सिर पर प्रहार किया। गुरु मरकर व्यन्तर (एक देव योनि) हो गए। वह शिष्य संघ का स्वामी बन गया और प्रकट रूप से श्वेताम्बर हो गया। उसने उपदेश किये कि सग्रन्थ लिंग (वस्त्रधारी साधु) से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय चला और उन्होंने उसी आधार पर आचार ग्रन्थ भी रच डाले।[1]

देवसेन सूरि के अनुसार दुर्भिक्षावस्था में साधुओं ने वस्त्र धारण किये। परन्तु हरिषेण की कथा के अनुसार कुछ शिथिलाचारी साधु हो गए थे जो अपनी नग्नता के आवरण के लिए आगे हाथ पर वस्त्र लटका लिया करते थे। बौद्ध पिटकों में स्थान-स्थान पर 'निगंठों नातपुत्तो'[2] आता है। ये निगंठ कौन कहलाते थे ? इस संदर्भ में भी उन ग्रन्थों मे कहा गया है, 'निगंठा एक-साटका' अर्थात् निर्ग्रन्थ एक वस्त्रधारी होते है।[3] सूत्रकृतांग में महावीर को 'नातपुत्त' कहा गया है।[4] सचेलक (वस्त्रधारी) अचेलक (दिगम्बर) के विषय में आचारांग में चर्चा की गई है।[5]

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ से जैनों की एक परम्परा थी। बीच में शिथिलाचारी साधुओं के होने के कारण सचेलक आम्नाय प्रकट हुआ। इस विषय पर यहां अधिक कहना अपेक्षित नहीं है। डॉ० जेकोबी लिखते है, "छ: तीर्थंकर शीर्षक 'जेम्सडि अवलिस' के लेख से यह पता चलता है कि दिगम्बर साधुओं का प्राचीन सम्प्रदाय है और सभी विरोधी उपदेशक (?) अपने सिद्धान्तों और धार्मिक आचरणों पर जैन धर्म के प्रभाव को मानते है···।"[6] डॉ० बुइलर ने भी भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का महत्त्व बतलाया है।

अतएव संघ भेद का मूल कारण मुनियों का वस्त्र धारण करना ही रहा है।

---

1. भावसंग्रह, गाथा 53-70, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
2. मज्झिमनिकाय सुत्त 56
3. अंगुत्तर वाल्यूम 3, पृ० 383
4. सूत्रकृतांग 1, 2, 3, 22
5. आचारांग विमोहाध्ययन
6. इंडियन एंटीक्वेरी, वाल्यूम 9

इस संघभेद से जैन साहित्य की महान् क्षति हुई। श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा के अनुयायियों के बाह्याचारों में भेद होते हुए भी दर्शनतत्वों में अधिक मतभेद नहीं है। सिद्धान्तादि के विषय में दोनों सम्प्रदायों मे जो मतभेद हैं उनके विषय में जैन-दर्शन-साहित्य के विद्वान पं० सुखलालजी ने निम्न प्रकार लिखा है—

श्वेताम्बर-दिगम्बर के समान मन्तव्य

निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से जीव शब्द की व्याख्या दोनो सम्प्रदाय मे तुल्य है। इस सम्बन्ध में जीवकाण्ड का 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है।

मार्गणास्थान शब्द की व्याख्या दोनों में समान है। गुणस्थान शब्द की व्याख्या-शैली कर्मग्रन्थ और जीवकाण्ड मे भिन्न सी है, पर उसमे तात्विक अर्थ भेद नहीं है।

उपयोग का स्वरूप दोनो सम्प्रदायो मे समान माना गया है।

कर्मग्रन्थ मे अपर्याप्त सज्ञी को तीन गुणस्थान माने है, किन्तु गम्मटसार मे पांच माने हैं। इस प्रकार दोनो का सख्या विषयक मतभेद है तथापि वह अपेक्षा-कृत है, इसलिए वास्तविक दृष्टि से उसमें समानता ही है।

केवल ज्ञानी के विषय मे संक्षिप्त तथा असंज्ञित्व का व्यवहार दोनों सम्प्रदाय के शास्त्रों में समान है।

वायुकाय के शरीर की ध्वजाकारता दोनो सम्प्रदाय को मान्य है। छादम-स्थिक उपभोगों का कालमान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दोनों सम्प्रदायों को मान्य है।

भावलेश्या के सम्बन्ध का स्वरूप, दृष्टान्त आदि अनेक बातें दोनों सम्प्रदाय में तुल्य हैं।

चौदह मार्गणाओं का अर्थ दोनों सम्प्रदाय में समान है तथा उनकी मूल गाथाएं भी एक-सी हैं।

सम्यक्त्व की व्याख्या दोनों सम्प्रदायों में तुल्य है।[1]

व्याख्या कुछ भिन्न सी होने पर भी आहार के स्वरूप में दोनों सम्प्रदाय का तात्विक भेद नही है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में सर्वत्र आहार के 3 भेद हैं और दिगम्बर ग्रन्थों मे कहीं छः भेद भी मिलते हैं।

परिहारविशुद्धि संयम का अधिकारी कितनी उम्र का होना चाहिए, उसमें कितना ज्ञान आवश्यक है और वह संयम किसके समीप ग्रहण किया जा सकता है, और उसमें विहारादि काल नियम कैसा है इत्यादि उसके सम्बन्ध की बातें दोनों सम्प्रदाय में बहुत अंशों में समान हैं।

---

1. दर्शन और चिन्तन भाग, 1-2, पृ० 340

क्षायिक सम्यक्त्व जिनकालिक मनुष्य को होता है, यह बात दोनों सम्प्रदायों को इष्ट है। केवली में द्रव्य मन का सम्बन्ध दोनों सम्प्रदाय में इष्ट है।

मिश्र सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मति आदि उपयोगों की ज्ञानाज्ञान उभयरूपता गोम्मटसार में भी है। गर्भज मनुष्यों की संख्या के सूचक उनतीस अंक दोनों सम्प्रदाय में तुल्य हैं। इन्द्रिय मार्गणा में द्वीन्द्रियादि का और काय मार्गणा में तेजकाय आदि का विशेषाधिकत्व दोनों सम्प्रदाय में इष्ट है।[1]

वक्रगति में विग्रहों की संख्या दोनों सम्प्रदाय में समान है। फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में कहीं-कहीं चार विग्रहों का मतान्तर पाया जाता है, वह दिगम्बरीय ग्रन्थों में देखने में नहीं आया। यथा वक्र गति का कालमान दोनो सम्प्रदायों में तुल्य है। वक्रगति में अनाहारकत्व का काल-मान, व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियों से विचारा जाता है। इनमें से व्यवहार दृष्टि के अनुसार श्वेताम्बर प्रसिद्ध तत्वार्थ में विचार है और निश्चय दृष्टि के अनुसार दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्वार्थ में विचार है। अतएव इस विषय में भी दोनों सम्प्रदाय का वास्तविक मतभेद नहीं है।

अवधिदर्शन मे गुणस्थानो की संख्या के विषय मे सैद्धान्तिक एक और कार्मग्रन्थिक दो, ऐसे जो तीन पक्ष है, उनमे से कार्मग्रन्थिक दोनो ही पक्ष दिगम्बरीय ग्रन्थों में मिलते हैं। केवलज्ञानी में आहारकत्व, आहार का कारण असातावेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलों का ग्रहण, ये तीनो बातें दोनों सम्प्रदायों में समान मान्य हैं।

गुणस्थान में जीव स्थान का विचार गोम्मटसार में कर्मग्रन्थ की अपेक्षा कुछ भिन्न जान पड़ता है। पर वह अपेक्षाकृत होने से वस्तुतः कर्म ग्रन्थ के समान ही है।[2] गुणस्थान में उपयोग की संख्या कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार में तुल्य है।

ऐकेन्द्रिय में सासादन भाव मानने और न मानने वाले, ऐसे जो दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हैं, दिगम्बर ग्रन्थों में भी हैं।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में जो कहीं कर्मबन्ध के चार हेतु, कही दो हेतु और कहीं पांच हेतु कहे गए हैं, दिगम्बर ग्रन्थों में भी वे सब वर्णित हैं।

बन्ध-हेतुओं के उत्तर भेद आदि दोनो सम्प्रदाय में समान है। सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओं का विचार दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों मे है।

एक संख्या के अर्थ में रूप शब्द दोनों ग्रन्थों के सम्प्रदाय में मिलता है। कर्म ग्रन्थ में वर्णित दस तथा छः क्षेप त्रिलोकसार में भी है। उधर प्रकृतियों के मूल बन्ध हेतुओं का विचार जो सर्वार्थसिद्धि में है, वह पंचसंग्रह में किये हुए विचार से कुछ भिन्न-सा होने पर भी वस्तुतः उसके समान ही है।

---

1. दर्शन और चिन्तन, भाग 1-2, पृ० 340
2. वही, पृ० 341

कर्म ग्रन्थ तथा पंच संग्रह में एक जीवाश्रित भावों का जो विचार है गोम्मटसार में बहुत अंशों में उसके समान ही वर्णन है ।[1]

असमान मन्तव्य

श्वेताम्बर-ग्रन्थों में तेज:काय के वैक्रिय शरीर का कथन नहीं है, पर दिगम्बर ग्रन्थों में है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदाय में संज्ञी असंज्ञी का व्यवहार कुछ भिन्न है । तथा श्वेताम्बर-ग्रन्थों में हेतुवादोपदेशिकी आदि संज्ञाओं का विस्तृत वर्णन है, पर दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं है ।

श्वेताम्बर शास्त्र प्रसिद्ध करण पर्याय शब्द के स्थान में दिगम्बर शास्त्र में निर्वृत्य पर्याप्त शब्द है । व्याख्या भी दोनों शब्दों की कुछ भिन्न है ।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन का क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद ये तीन पक्ष हैं, परन्तु दिगम्बर-ग्रन्थों में सहभावित्व का एक ही पक्ष है ।[2]

लेश्या तथा आयु में बन्धाबन्ध की अपेक्षा से कषाय के जो 14 और 20 भेद गोम्मटसार में हैं, वे श्वेताम्बर ग्रन्थों में नही देखे गए ।

अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाये जाने और न पाये जाने के सम्बन्ध में दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में एक ही पक्ष है ।

गोम्मटसार में नारकों की संख्या कर्मबन्ध वर्णित संख्या से भिन्न है ।

द्रव्यमन का आकार तथा स्थान दिगम्बर सम्प्रदाय में श्वेताम्बर की अपेक्षा भिन्न प्रकार का माना है और तीन योगों के बाह्याभ्यन्तर कारणों का वर्णन राजवार्तिक में बहुत स्पष्ट किया है ।

मन:पर्ययज्ञान के योगों की संख्या दोनों सम्प्रदायों में तुल्य नहीं है ।

श्वेताम्बर ग्रन्थो में काल को स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपचरित भी । किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में उसको स्वतन्त्र ही माना है । स्वतन्त्र पक्ष में भी काल का स्वरूप दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों में एक-सा नहीं है ।

जीव सम्यक्त्व सहित मरकर स्त्री रूप में पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य है, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय को यह मन्तव्य इष्ट नही हो सकता, क्योंकि उसमें भगवान् मल्लिनाथ का स्त्रीयोनि तथा सम्यक्त्व सहित उत्पन्न होना माना गया है ।[3]

---

1. दर्शन और चिन्तन, भाग-1-2, पृ० 342
2. वही
3. वही, पृ० 343

मुनि

अब तक जैन धर्म और उनके संघ भेदादि की मान्यताओं का संक्षिप्त परिचय पीछे दिया गया। संघभेद का मूल कारण मुनियों का अचेलकत्व-सलेचकत्व ही था। अतएव आगे मुनियों के विषय में संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

भारतीय धार्मिक इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि यहां दो परम्पराएं विद्यमान थीं। एक ब्राह्मण और दूसरी श्रमण। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके पुष्कल प्रमाण मिल चुके हैं कि श्रमण परम्परा भी ब्राह्मण परम्परा से कम पुरानी नहीं।[1] उस काल से आज तक दोनों में भेद भी बराबर चला आ रहा है।

कुछ विद्वानों ने साधुओं को दो श्रेणियों में विभाजित किया (1) श्रमण, (2) ब्राह्मण।[2] पतंजलि अपने महाभाष्य के एक सूत्र में श्रमण और ब्राह्मण का शाश्वत विरोध स्वीकारते हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरुक और आजीवक ये पांच भेद 'श्रमण' के लिए ठहराये गए हैं। श्रमण परम्परा में केवल जैन हो सो बात नहीं, इसके अन्तर्गत सांख्य, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि सम्प्रदाय आते हैं। प्राचीन काल में श्रमण सम्प्रदाय की शाखा-प्रतिशाखाओं में 'गुरु' या त्यागी वर्ग के लिए श्रमण, भिक्षु, अनगार (मुनि), यति, साधु, तपस्वी, परिव्राजक, अर्हत्, जिन, आदि शब्द प्रचलित थे। श्रमण परम्परा के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव थे। डॉ० आर० जी० भंडारकर ने लिखा है—"प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज मे ऐसे व्यक्ति मौजूद थे, जो श्रमण कहे जाते थे। ये ध्यान में मग्न रहते और कभी-कभी मुक्ति का उपदेश देते थे, जो प्रचलित धर्म के अनुकूल नहीं होता था।"[3]

सामान्य विवेचन

यहां हम देखेंगे कि मुनि कब, कैसे और कौन होता है? ऊपर यह बता चुके हैं कि मुनि शब्द के अनेक पर्याय हैं। अतः प्रथम हम 'मुनि' शब्द का अर्थ जान लें तो उत्तम रहेगा। साधारण अर्थ पर्यायवाची शब्दों से ही जाना जा सकता है। वाचस्पत्यभिधानम् में मुनि का निम्नलिखित अर्थ किया गया है—

मुनि = पु० मन-इन् पृषो उत्यम् ॥ 'दुःखेष्वनु द्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः। वीतरागभय क्रोधः स्थिरधीरमुनिरुच्यते' गीतोक्तलक्षणे स्थिरचित्ते वीतरागादौ जने। ते च मन्वत्रिविष्णु हारीतादय।2 सप्तसंख्याया च। 3 वड्सेनतरो।4 जिने

1. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका)
2. इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
3. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ० आर० जी० भण्डारकर, पूना

मेदि० । 5 पियाल वृक्षे 6 पराशर वृक्षे हेम च० 7 दमनकंजे राजनि०। 'मननान्मुनिरुच्यते' इत्यक्ते 8 मननयुते लि० ।[1] मुनि शब्द की परिभाषा उक्त प्रकार से की गई है। यहां केवल जैन मुनियों के आचार-विचार का विवेचन करना ही हमारा लक्ष्य है। जैन मुनियों या साधुओं को अत्यन्त कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है, उनके चारित्रिक तथा अन्य नियमों का उल्लेख हमें मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में मिलता है ।[2] मुनि को 28 मूल गुणों का पालन करना होता है।

पंचयमहव्वया इंसमिदिओ पंचजिणवरदिट्ठा ।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ।। 2 ।।
अच्चेलकम्महाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव ।
ठिदि भोयणेणभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ।। 3 ।।

पांच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रियों को वश में रखना, षट् आवश्यक क्रिया, लोंच, आचेलक्य स्नान का त्याग, क्षितिशयन, दांत का न घिसना, खड़े होकर आहार ग्रहण करना और एक बार आहार ग्रहण करना—ये 28 मूलगुण जिनेन्द्र देव द्वारा मुनि के लिए उपदिष्ट है ।[3] संक्षेप में इनका विवरण नीचे दिया जाता है—

1. **पंच महाव्रत**—पापों से निवृत्त होना व्रत कहलाता है। जैनों में मुख्य व्रतों की संख्या 5 मानी गई है। यही उनके महान् व्रत हैं। (1) अहिंसा महाव्रत, (2) सत्य महाव्रत, (3) अचौर्य महाव्रत, (4) ब्रह्मचर्य महाव्रत और (5) अपरिग्रह महाव्रत। इन महाव्रतों का पालक जैन गृहस्थ से लेकर मुनि तक होता है। विशेषता इतनी है कि गृहस्थ को इन व्रतों के पालने में शिथिलता का विधान है परन्तु मुनि को इन महाव्रतों के निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार सर्वांशत: पालन करना होता है।

2. **पंच समिति**—सम्यग्रूपेण इति = समिति। ये पांच समितियां मानी गई हैं। (1) निक्षेपण समिति—पुस्तक कमंडलु आदि जमीन पर देखकर रखना, पुस्तकादि का ग्रहण देखकर करना। (2) ईर्ष्या समिति—रत्नाचारपूर्वक वंदना, स्वाध्यायादि के लिए गमन करना, विहार के समय 3½ हाथ आगे की जमीन देखकर चलना। (4) भाषा समिति—हित, मित, संशयरहित और सावद्य वचनों

---

1. वाचस्पत्यभिधानम् कोश— वाल्यूम 6, पृ० 4757
2. परमात्मप्रकाश, अंग्रेजी भूमिका, पृ० 40
3. मूलाचार, बट्टकेराचार्य कृत, पृ० 4-5, प्रका० मा० दि० जैन ग्रंथमाला, वि० सं० 1977

का त्याग। (4) एषणा समिति—कृत, कारित और अनुमोदनरहित 46 दोषों से रहित भोजन ग्रहण करना। (5) प्रतिष्ठापना समिति—मल-मूत्रादि का त्याग किसी ऐसे प्रदेश में करना जहां किसी अन्य व्यक्ति को कष्ट न हो। इस प्रकार समिति के 5 भेद हैं। इन सबके भी भेदाभेद हैं, जिनका विश्लेषण यहां उपयुक्त नहीं।

3. **इन्द्रियनिरोध व्रत**— ज्ञानेन्द्रियां 5 मानी गई हैं। उनको वश में रखना। इस व्रत का स्वरूप मूलाचार में इस प्रकार किया गया है[1]—

> चक्खू सोदं घाणं जिब्भा, फासं च इंदिया पंच।
> सगसग विसयहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥ 16 ॥

'चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शनेन्द्रिय ऐसी पांच इन्द्रियां हैं। ये अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करती हैं। अतः मुनिराज को सदा इनका निरोध करना चाहिए।' इस प्रकार इन्द्रिय निरोध व्रत में, चक्षु निरोध, श्रोत्र-निरोध, घ्राण-निरोध, जिह्वा-निरोध और स्पर्श-निरोध आता है।

4. **षडावश्यक व्रत**—मुनि के लिए 6 आवश्यक क्रियाएं निर्दिष्ट हैं[2]—

> समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
> पच्चक्खाण विसग्गो करणीया वासया छप्पि ॥ 22 ॥

समता— सुख-दुःख, जीवन-मरण, शीत-ताप सबमें समान भाव रखना तथा सामयिक करना। स्तव—जिनेन्द्रदेव की स्तुति। वंदना—पंचगुरु भक्ति की वंदना करना। प्रतिक्रमण—अशुभ क्रिया का न करना, किए हुए अपराधों का आचार्य चरणों में जाकर शुद्ध करना। प्रत्याख्यान—भविष्यत और वर्तमान काल में द्रव्यादिक के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। विसर्ग—देह के ऊपर ममत्वरहित होकर तपश्चरणों में कायोत्सर्ग करना। ये छः आवश्यक कर्म हैं। आवश्यक अर्थात् इन्द्रियकषाय, रागद्वेषादिक के वश में जो नहीं होता वह अवश है। ऐसे अवश मुनि का जो कर्तव्य वह आवश्यक कहलाता है।[3]

5. **लोंच**—[4]

> बियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहणो।
> सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥ 31 ॥

---

1. मूलाचार, पृ० 20
2. वही, पृ० 27
3. मूलाचार, प्रका० समिति फलटण वी० सं० 2481, पृ० 13
4. वही, पृ० 17

दो, तीन और चार मास के अन्तर से लोंच उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार का होता है। प्रतिक्रमण के दिवस में उपवास पूर्वक लोंच करना चाहिए। लोंच शब्द लुच् धातु से बना है, जिसका अर्थ है अपनमन या दूर करना। जैन मुनि नाई आदि से बाल न कटाकर स्वतः अपने हाथ की चुटकी से दाढ़ी, मूंछ और सिर के बालों को दूर करते है। इसे ही केश लोंच कहते हैं।

6. **अचलक्य**—चेल वस्त्र को कहते हैं, अचेलकत्व अर्थात् वस्त्रों का धारण न करना। यह भी मूलगुण है। इसका स्वरूप निम्न प्रकार से है—

> वत्थाजिणवक्केण व अहवा पत्ताइणा असंवरण।
> णिब्भूसणाणिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥ 32 ॥

'वस्त्र, हरणादि का चर्म, वल्कल अथवा पत्रादि से शरीर को न ढकना अचेलकत्व है। निर्भूषण, निर्ग्रन्थ अर्थात् नग्न आचेलक्य संसार के लिए पूज्य है।'

7. **स्नान निषेध व्रत**—मुनि को जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उवटन आदि का त्याग करना होता है। (आहार देने के पूर्व श्रावक मुनि की पूजा करते समय उनके शरीर को भीगे अगोछे से अगोछ देते हैं)।

8. **क्षिति शयन**—पृथ्वी पर सोना क्षितिशयन कहलाता है।

9. **अदन्तघर्षण**—दांतों को दातून, मजन आदि से न घिसना।

10. **स्थित भोजन**—खड़े होकर भोजन (आहार) ग्रहण करना है।[1]

> अजलिपुडेपाठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
> पडिसुद्धे भूमितिये असण ट्ठिदिभोयणं याम ॥36॥

'अंजलि पुट के द्वारा, पैरों के मध्य समान अन्तर रखकर खड़े होकर, परिशुद्ध भूमि में खड़े होकर भोजन ग्रहण करना स्थित भोजन है।' मुनि को भोजन का निर्देश है कि वह अपनी अंजलि में ही भोजन करे और पवित्र स्थान पर।

11. **एक बार भोजन**—इस मूल गुण के अनुसार मुनि एक बार भोजन ले सकता है। एक बार मे भी खाली पेट ही भोजन लेता है। उसके लिए समय की व्यवस्था है—[2]

> उदयत्थमणे काले णाली तियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
> एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥37॥

'सूर्योदय और सूर्यास्त की तीन घड़ी छोड़कर मध्यकाल में, एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में जो भोजन लिया जाता है उसे एकभक्त कहते हैं।'

---

1. मूलाचार, पृ० 19
2. वही, पृ० 21

उपर्युक्त प्रकार से जैन मुनियों के 28 मूल गुण बतलाए गए हैं। जिन्हें मुनियों को आत्मकल्याणार्थ सर्वांशतः पालन करना अनिवार्य होता है। किसी प्रकार की भी बाधाओं में इन मूलगुणों को मुनि नहीं छोड़ता। मुनि को शत्रु-मित्र, कांच-कंचन, निन्दा-स्तुति सब समान हैं। उसे किसी से राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष से विरत होने को ही वह साधु होता है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥47॥

'मोहरूपी अन्धकार के दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ-साथ जिसे सच्चा ज्ञान भी प्राप्त हो गया है, वह साधु राग-द्वेष निवृत्ति के लिए चरित्र का पालन करता है।'[1] मुनि के लिंग अर्थात् चिह्न दो प्रकार के होते हैं--(1) द्रव्य लिंग अथवा बाह्य चिह्न, (2)भावलिंग अथवा आभ्यन्तर चिह्न। मुनि के ये चिह्न इस प्रकार हैं—[2]

जधजादरुवजादं उप्पाडिदके समंसुगं सुद्ध।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥5॥
मुच्छारंविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंग ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥6॥ जुगलं ॥

'मुनि का रूप जैसा मनुष्य उत्पन्न होता है वैसा हो, सिर, दाढ़ी-मूंछों के बाल उखाड़े हुए हों, आचरण शुद्ध हो, हिंसदिक पापों से रहित हो, ये मुनि का बाह्य लिंग हैं। ममता रूप परिणामों के आरम्भ से रहित हो। उपभोग और योग अर्थात् मन वचन काय की शुद्धि से युक्त, पर की अपेक्षा न रखने वाला और मोक्ष का कारण ऐसा जिनेन्द्र का कहा हुआ भाव-लिंग होता है।'

अब आगे मुनि की दिनचर्या के विषय में विचार करेंगे।

इस मुनि की दिनचर्या का विस्तृत वर्णन दिगम्बर जैन ग्रंथों में मिलता है। मुख्य रूप से साधु के यति, मुनि, ऋषि और अनगार नाम के चार भेद किए गए हैं। सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं। जो उपशम अथवा क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हैं उन्हें यति कहते हैं। अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानी को मुनि कहते हैं। ऋद्धियां प्राप्त होने वाले को ऋषि कहते हैं।

---

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, तृ० अ० पृ० 68, समन्त भद्राचार्य विरचित प्रकाशन 2481 वी० सं०
2. प्रवचनसार, अध्याय 3, पृ० 278, प्र० रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वि० सं०1991

इनके चार भेद हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। साधारण साधुओं को अनगार कहते है।[1]

दिनचर्या आवश्यक कर्म है। आवश्यक कर्म 6 माने गए हैं।[2] षडावश्यक क्रियाओं का उल्लेख करने से पूर्व आवश्यक पर विचार करना होगा। आवश्यक नियुक्ति के विषय में मूलाचार में निम्न प्रकार लिखा है—[3]

> ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावासयन्ति बोधव्वा।
> जुत्तित्ति उवाय त्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥14॥

अर्थात् जो वश नही हुआ है ऐसे साधु को अवश कहते हैं और ऐसे साधु के कार्य को आवश्यक कहते हैं। उस आवश्यक का जो सम्पूर्ण उपाय उसको आवश्यक निर्युक्ति कहते है। इसी को नियमसार में इस प्रकार कहा है—[4]

> ण वसो अवसो अवस-स्स कम्ममावासयंति वोधव्वा।
> जुत्तित्ति उवाअंत्तिय, णिरवयवो होदि णिज्जेत्ती ॥142॥

'जो किसी के आधीन नहीं है, वह अवश है। स्वाधीन के ही आवश्यक कर्म होता है। यही मुक्ति है, यही उपाय है तथा यही अवयव पर द्रव्य अर्थात् उससे रहित निरुक्ति है।' प्रतिदिन सामायिक करना, तीर्थंकरों की स्तुति करना, उन्हें नमस्कार करना, प्रमादवश हुए दोषों का शोधन करना, भविष्य में लग सकने वाले दोषों से बचने के लिए अयोग्य वस्तुओं का मन, वचन और काय से त्याग करना, कर्मों के विनाश के लिए एवं तप की वृद्धि के लिए कायोत्सर्ग करना, ये मुनियों के षडावश्यक कर्म कहलाते हैं।[5]

मुनि की अपनी दिनचर्या का अधिकांश समय स्वाध्याय में बिताने का विधान है। प्रातः दो घड़ी दिन बीतने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और मध्याह्न के दो घड़ी पूर्व समाप्त कर देना चाहिए। पुनः मध्याह्न के दो घड़ी बाद स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और सूर्यास्त होने के दो घड़ी पूर्व तक करना चाहिए। तदुपरान्त दो घड़ी रात बीत जाने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और मध्यरात्रि के दो घड़ी पूर्व समाप्त कर देना चाहिए। रात्रि में चार घड़ी एक करवट लेटकर विश्राम करने के बाद पुनः उक्त क्रम से स्वाध्याय करे। जब प्रभात

---

1. चारित्रसार, पृ० 47
2. मूलाचार, नियमसार आदि में
3. मूलाचार वट्टकेराचार्य कृत, पृ० 400
4. नियमसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग बम्बई, पृ० 169
5. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन धर्म

होने में दो घड़ी का समय शेष रह जाय तब मुनि प्रतिक्रमण करे। प्रातःकालीन कृत्योपरान्त स्तुति वन्दना आदि करके आत्मध्यान करना चाहिए। इस प्रकार देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करनी चाहिए। इसके बाद पुनः स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए। इसके बाद भोजन की इच्छा होने पर शास्त्रोक्त विधि से आहार लेने को निकले और अल्पाहार करने के बाद अग्रिम दिन तक के लिए भोजन त्याग का संकल्प करे। उक्त प्रकार से मुनि की दिनचर्या का विधान है।[1]

1. जैनधर्म, पृ० 216, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन अपभ्रंश काव्य का परवर्ती विकास

हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने हिन्दी के आदिकाल में अपभ्रंश को रखा है। किन्ही ने हिन्दी पर अपभ्रंश का प्रभाव माना है तो किन्ही ने अपभ्रंश को हिन्दी का मूल माना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको ने अपभ्रश साहित्य को हिन्दी का ही रूप समझा है तो ठीक ही किया है।"[1] डॉ० नामवर सिह का कहना है कि "हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रश के गर्भ से ही क्रमशः उद्‌भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रश से 'प्रभावित' मात्र कहना अवैज्ञानिक है।"[2] अतः यह सिद्ध होता है कि अपभ्रश काव्यो का परवर्ती विकास हिन्दी काव्यो के रूप में हुआ। ठीक इसी प्रकार जैन अपभ्रश काव्य का परवर्ती रूप हमें हिन्दी जैन साहित्य मे देखने को मिलता है। भाषा सदैव परिवर्तनशील रही है और उसका परिवर्तन ही उसका विकास माना जाता है।

भाषा के प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग-क्रम निर्धारण करते हुए स्व० पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने लिखा है, "संस्कृत मे छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग क्रम यह है—1. मूलभाषा, 2. छंदस् की भाषा, 3. प्राकृत, 4. संस्कृत, 5. अपभ्रंश।"[3] यों अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से ही मिलने लगता है, परन्तु विक्रम की 7वीं शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक इसकी प्रधानता रही और फिर वही पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।[4] जैन अपभ्रंश काव्य में 8वीं शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी तक अनेक महाकवि हुए। 8वी शताब्दी में होने वाले स्वयंभू अपभ्रंश के महाकवि हैं। स्वयंभू से भी पूर्व छठी शताब्दी में जोइन्दु मुनि हुए थे, जिन्होंने

1. डॉ० नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० 236
2. वही, पृ० 238
3. पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', पुरानी हिन्दी, पृ० 2
4. वही, पृ० 8

परमात्म-प्रकाश और योगसार नामक आध्यात्मिक रचनाएं कीं। स्वयंभू के बाद 10वीं शताब्दी में मुनि रामसिंह, पद्मकीर्ति, पुष्पदंत, धनपाल और देवसेन आदि अनेक कवि हुए।

11वीं, 12वीं शताब्दी में होने वाले कवियों में कनकामर, जिनदत्तसूरि, वीर, श्रीचन्द्र, यशःकीर्ति और नानंदि उल्लेखनीय हैं। महाकवि धवल भी इसी शताब्दी में हुए। इनमें कनकामर ने करकण्डुचरिउ, जिनदत्तसूरि ने चर्चरी, नयनंदि ने सुदंसणचरिउ की रचना की। 13वीं-14वीं शताब्दी में अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी की रचनाएं हुईं।[1] इस प्रकार जैन अपभ्रंश काव्य के परवर्ती विकास के रूप में मध्यकाल के हिन्दी जैन साहित्य और साहित्यकारों का उल्लेख कर सकते हैं। हिन्दी जैन साहित्य का मध्यकाल जैन इतिहासकारों ने 15वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक माना है।[2] इस काल में कवि ठकरसी, राजमल्ल, भारामल्ल, विनयचन्द, मुनि महानन्दिदेव, ब्रह्म० रायमल्लजी, बनारसी दास, रूपचन्द्र, दौलतराम, द्यानतराम, भूधरदास, पं० टोडरमल जी, भैया भगवतीदास, आनन्दघन और चेतनकवि आदि अनेक कवि हो चुके हैं। कविवर बनारसी दास, भैया भगवतीदास और आनन्दघन आदि कवियों के काव्यों को देखने से पता चलता है कि वे जैन अपभ्रंश काव्यों से प्रभावित ही नहीं अपितु उनके विकसित रूप हैं। इनमें सभी की रचनाएं प्रायः अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों पर आधारित हैं फिर भी रचनाओ को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता।

विक्रम की 16वीं शताब्दी के विद्वान् कवियों में कविवर ठकुरसी का नाम उल्लेखनीय है।[3] आपकी कृतियों के नाम—कृपणचरित्र, मेघमालावयकह्वा, नेमिराजमतीवेल और पंचेन्द्रियवेल हैं। अंतिम रचना में जीव को पंचेन्द्रियों के विषयों से छुड़ाने का यत्न किया गया है। एक उदाहरण देखिये :

कमल पयट्ठो मभर दिनि घाण गंध रस रूढ।
रमणि पडीतो संवुड्यो नीसरि सक्यौ न मूढ।
सो नीसरि सक्यौ न मूढो अतिघ्राण गंधरस रूढो।
मनचिंतै रमणि गमाई, रसलेस्सु आज अघाई।

× × ×

अलि मरण करण दिठि दीजै अति गंधु लोभु नहिं कीजै।[4]

---

1. बनारसी विलास की प्रस्तावना, पृ० 7-8
2. कामताप्रसाद, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 43
3. अनेकान्त, वर्ष 14, किरण 1, पृ० 10
4. वही, पृ० 13

इसमें बताया गया है कि एक गंध लोलुपी भ्रमर कमल-पराग की गंध में इतना आसक्त हो गया कि कमल बन्द होने से पूर्व निकलना ही भूल गया। अनेकानेक विचार में मग्न भ्रमर को कमल नाल सहित सुबह हाथी ने खा डाला। इस प्रकार कवि ने भ्रमर के माध्यम से मनुष्य को विषयादिक इन्द्रियों से सावधान किया है।

कविवर रूपचन्द जी 17वीं शताब्दी के श्रेष्ठ कवि थे। आपकी अभी तक परमार्थ दोहाशतक, परमार्थगीत, पदसंग्रह, गीत परमार्थी, पंचमंगल आदि रचनाएं प्राप्त हुई हैं। इनकी रचनाओं में से गुरु की महिमा का एक पद उद्धृत है—

> गुरु बिनु भेद न पाइये, को पर को निज वस्तु
> गुरु बिनु भवसागर विषै, परत गहै को हस्तु॥
> रूपचन्द सदगुरनि की, जति बलिहारी जाइ।
> आपुन जे सिवपुर गहै, भव्यनि पंथ दिखाइ॥[1]

हिन्दी जैन साहित्य के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास ने रूपचन्द जी तथा अन्य कई कवियों को आगरा नगर के विख्यात विद्वानों में गिनाया है जिसका पता उनके निम्न पद्य से चलता है—

> नगर आगरा मोहि विख्याता, कारन पाइ भये बहु ज्ञाता।
> पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने, निशिदिन ज्ञान कथा रस भीने॥ 10॥
>
> रूपचंद पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भज नाम।
> तृतिय भगोतीदास नर, कौरंपाल मनुधाम॥ 11॥
>
> धर्मदास ए पंचजन, मिलि वेसैं इक ठौर।
> परमारथ चरचा करें इन्हके कथां न और॥ 12॥
>
> —समयसार नाटक भाषा।

उक्त पद्य मे सिद्ध होता है कि रूपचन्द जी बनारसीदास के समकालीन थे। विस्तार से विवेचन करने के लिए यहां स्थान नहीं है अतएव हिन्दी जैन साहित्य के मरमियों में अग्रगण्य श्री बनारसीदास, भैया भगवतीदास और आनन्दघन के विषय में यहां क्रमश: विवेचन किया जा रहा है।

अध्यात्मरस का पान कराने वाले बनारसीदास का जन्म संवत् 1643 में जौनपुर नगर में हुआ था।[2] इन्होंने अध्यात्म परक साहित्य-सृजन किया, यों

1. कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा संपादित बनारसी विलास की प्रस्तावना से, पृ० 15
2. बनारसी विलास, पृ० 23

युवावस्था में श्रृंगार रस की कविताएं भी की थीं। 'नवरस पद्यावलि' इसी का परिणाम है। नाटक समयसार बनारसीदास जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अध्यात्म रस का यह उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसका प्रत्येक पद अध्येता के मानस पटल पर सीधा असर डालता है। उदाहरणार्थ—

राम रसिक अरु राम रस कहन सुनन को दोइ।
जब समाधि परगट भई तब दुविधा नहिं कोइ॥ 1 ॥

जाके घर समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानही सो अपराधी जीव॥ 2 ॥

बनारसीदास ने नाटक समयसार की रचना आचार्य कुन्दकुन्द (ई० 1 शताब्दी) के प्राकृत वाले समयसार एवं राजमल्ल की हिन्दी गद्य बालबोधिनी टीका के आधार पर की। अर्धकथानक कवि का दूसरा ग्रंथ है जो स्वयं का जीवन-चरित्र है। हिन्दी साहित्य को कवि की यह महान देन है। बनारसीदास जी ने उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त सैकड़ों फुटकर रचनाएं भी की थीं, जिनका संग्रह कवि की मृत्यु के बाद पं० जगजीवनराम ने 'बनारसीविलास' के रूप में प्रस्तुत किया था। पंडित जी आगरा के निवासी थे। इन्होंने संग्रह का कार्य 1701 सं० में समाप्त किया।[1] बनारसीविलास का संपादन करते हुए उसके संपादकों ने उसे निम्न चार भागो में विभक्त किया है—

1. जैन सिद्धान्त से सम्बन्धित कविताएं
2. अनूदित रचनाएं
3. आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी कविताएं
4. सुभाषित, पद एवं स्फुट कविताएं

कविवर बनारसीदास को अध्यात्मवादी कहा जाता है, इसका कथन पहले किया जा चुका है। उन्होंने आत्मा के विषय में मात्र कथन ही किया हो ऐसी बात नहीं अपितु उसकी अनुभूति भी की थी। यही कारण है कि वे ज्ञानक्षेत्र के अध्यात्म-वादियों से पृथक हो गए। उनका अत्मा निराकार, अदृश्य और अरूप था, परन्तु स्वयं में पूर्ण था। जैन आध्यात्मवादियों में ज्ञान और भक्ति का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। यह बात अवश्य है कि किसी ने ज्ञान पक्ष को प्रधानता दी है और किसी ने भक्ति को। बनारसीदास ने आचार्य पूज्यपाद (12वीं शतादी) के मार्ग का अनुसरण किया। पूज्यपाद का भक्ति के विषय में कहना था 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धि युक्तो नुरागो भक्तिः।' अतएव बनारसीदास की प्रेममूला भक्ति थी। जैन आचार्यों ने वीतरागी भगवान जिनेन्द्र और आस्था के

1. पं० कामताप्रसाद, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 120

स्वरूप में भेद नहीं माना है। दोनों में से किसी से प्रेम करना एक ही बात है। अरूपी-अदृष्ट आत्मा से प्रेम करने को रहस्यवाद कहते हैं।[1] इस आधार पर बनारसीदास को रहस्यवादी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वीतराग प्रभु में किया हुआ निस्वार्थ अनुराग सांसारिकता का कारण न होकर परमार्थ का कारण बनता है। सासारिक वस्तुओं का आकर्षण पाप का कारण होता है। दिव्य शक्तियों के निस्वार्थ प्रेम में सब कुछ देना होता है, लेना नहीं। इसी प्रेम को अहेतुक प्रेम की संज्ञा दी गई। बनारसीदास ने इसी प्रेम पद्धति को अपनाया है। उन्होंने अनेक रूपकों द्वारा आत्मा-परमात्मा को समझने और समझाने की चेष्टा की है। वे आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति बनाकर कहते हैं—

"मैं विरहिन पिय के आधीन, यों तलफों ज्यों जल बिन मीन।"

इतना ही नहीं, उसके हृदय में प्रिय से मिलने की उत्कंठा अत्यधिक तीव्र हो उठी है। आत्मसाक्षात्कार होने पर समुद्र में बूद की तरह समा जाना चाहती है—

मेरा मन का प्यारा जो मिले
बाहिर देखूं तो पिय दूर, घट देखे घट मे भरपूर,
घटि पहि गुप्त रहे निरधार, वचन अगोचर मन के पार।
अलख अमूरति वर्णन कोय, कबधों पिय के दर्शन होय।

इस विरह में व्याकुल सुमति को धीरे-धीरे यह विश्वास हो जाता है कि 'पिय मोरे घट, मैं पिय माहि, जल तरंग ज्यो द्विविधा नाही।' जब द्विविधा नहीं रही तो दोनों एकमएक हो गए और आत्मा कह उठी—

पिय मो करता मैं करतूति, पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुखसागर मैं सुख-सीव, पिय शिव मंदिर मैं शिवनीव॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम, पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भवानि, पिय जिनवर मैं केवलवानि॥

एक दूसरे पद मे सुमति के हृदय में चेतन्न के प्रति प्रेम की लहर अबाध गति से उठने लगती है। वह चेतन और स्वयं मे अन्तर को स्थान नहीं पाती। सुमति स्त्री और चेतन पति का रूप है। चेतन की ओर देखते ही उसके परायेपन की गागर फूट जाती है, शर्म छूट जाती है, आंचर फहर जाता है। कर्मों की कुसंगति में पड़कर भटका हुआ पति ज्ञान होने पर पुनः लौटता है। तब तक सुमति का एकनिष्ठ प्रेम उसी में लगा रहता है। यही उसका निस्वार्थ प्रेम था। भारतीय

---

1. डॉ० प्रेमसागर जैन, जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, भूमिका, पृ० 8

नारियों की भी प्रेम की यही परम्परा रही है उसी को कवि बनारसीदास ने निम्न पंक्तियों में उतारा है—

बालम तुहं तन, चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गौ फहराय, सरम गै छूटि ॥ 1 ॥

पिउ सुधि आवत बन में पेसिउ पेलि।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि ॥ 2 ॥

काय नगरिया भीतर चेतन, भूप।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप ॥ 3 ॥

चेतन तुहु जनि सोवहु नींद अघोर।
चार चोर घर मूसहिं, सरवर तोर ॥ 4 ॥[1]

उक्त आध्यात्मिक एवं अहेतुक प्रेम के साथ जैनों में आध्यात्मिक विवाह की भी अपनी प्राचीन परंपरा रही है। 'जिनोदय सूरि और जिनेश्वर सूरि विवाहला काव्य' वि० सं० 1331 उक्त आध्यात्मिक विवाह पद्धति का प्रमाण है।[2] बनारसीदास ने आत्मा रूपी नायिका के विवाह की बात 'शान्तिजिनस्तुति' में लिखी है। वे लिखते हैं—

सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहिं घरे।
सहि एरी ! मन उदधि अनन्दा सुख, कन्दा चन्दा देह धरे ॥
चन्द जिवां मेरा बल्लभ साहै, नैन चकोरहिं सुक्ख करै। आदि

दुलहिन दूल्हा की प्रतीक्षा मे बैठी है, अपनी सखी से कहती है, "सखी ! आज का दिन अत्यधिक मनोहर है, किन्तु मेरा मनभाया अभी तक नहीं आया। वह सुखकन्द है और चन्द्र के समान शोभा देता है···आदि।" आगे के जैन कवियों ने भी बनारसीदास के इस आध्यात्मिक विवाह का अनुसरण किया है।

भक्त परमात्मा को प्राप्त करने के लिए भक्ति-साधना करता है और जब वह साधना करते-करते इस बात पर आरूढ़ हो जाता है कि भगवान को स्वयं भक्त के पास आना पड़ेगा तो भगवान को सच्चे भक्त की टेक रखने के लिए साक्षात्कार देना ही पड़ता है। बनारसीदास की आत्मारूपी नारी के परस निरंजनदेव स्वयं प्रकट हुए।

परमात्मा तक पहुंचने के लिए न मालूम कितने मार्गों का निर्माण हुआ।

---

1. बनारसीविलास, पृ० 228
2. बनारसीदास के काव्य में भक्ति रस, अनेकान्त, वर्ष 16, किरण 3

कबीर की मान्यता थी कि निर्गुण राम के आते ही मन पवित्र हो जाता है। उनके पूर्व जैन अपभ्रंश-काव्य में उनकी यह मान्यता पूर्णरूपेण विद्यमान थी। विक्रम की छठी शताब्दी के योगीन्दु ने लिखा, शास्त्र-पुराण और तपस्या से मन शुद्ध नहीं हो सकता। परमात्मा के आने पर वही मन शुद्ध हो जाता है। मुनि रामसिंह ने भी इसी ढंग की बात कही थी, जिसका उल्लेख हम तृतीय परिच्छेद में कर चुके हैं। बनारसीदास पर भी अपभ्रंश की इसी परम्परा का प्रभाव है। जैन आचार्यों ने निर्गुण ब्रह्म को 'निष्कल' संज्ञा दी है। परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव ने लिखा है, 'पञ्चविध शरीर रहितः निष्कलः।' शरीर रहित का अर्थ है—निःशरीर, देह रहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्तिक। अलक्ष्य-योगीन्दु ने निष्कल को निरन्जन भी कहा है। निरन्जन वह है, जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण। मुनि रामसिंह ने एक स्थान पर 'निर्गुण' का भी प्रयोग किया है 'हउं सगुणी पिउ णिग्गुणणी णिलक्खण णीसंग'।[1] बनारसीदास ने इसे ही सिद्ध की संज्ञा दी है। वे सिद्ध की वन्दना करते हुए कहते है—

अविनासी अविकार परमरस धाम है।
समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं।
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त हैं।
जगत् शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत है।

अर्थात् वह ब्रह्म अविनाशी, विकार रहित, परमानन्द रूप है और वह सर्वांग सदर है। वह शुद्ध पवित्र बुद्धिवाला है, अनादि और अनन्त है। बनारसीदास ने 'सिद्ध' को 'शिव' भी कहा है। योगीन्दु से भी पूर्व आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र में 'त्वं शंकरो सि भुवनत्रय शंकरत्वात्' कहा था। बनारसीदास के शिव का ज्ञान अपरम्पार है, उसके प्रति कोई भी आकर्षित हुए बिना नही रह सकता। बनारसीदास ने लिखा है—

जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक
महासुखसागर की विसरामी॥
जीव अजीव जिते जग में,
तिनको गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिवरूप बसै सिवथानक,
तहि विलोकि नमें सिवगामी॥

---

1. पाहुड़ दोहा, 100 वां दोहा

इस 'शिव' की प्राप्ति के विषय में जीव को जब यह ज्ञात हो जाता है कि बिना आत्मज्ञान के 'शिव' अथवा परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती, तब वह उस अगम्य की, जो हृदय में ही समाया है—खोज करता है। अध्यात्मज्ञान होने पर यह खोज पूर्ण होती है। अध्यात्मज्ञान होते ही सुमति रूपी कोकिल बोलने लगती है और मनरूपी भ्रमर मदोन्मत्त हो उठते हैं। शुभ भावरूपी पल्लव लहराने लगते हैं और सहज आनन्द रूपी बसन्त का आगमन होने लगता है। कवि ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

अध्यात्म बिन क्यों पाइए हो, परम पुरुष को रूप।
अघट अंग घट मिल रह्यो हो, महिम अगम अरूप॥
माया रजनी लघु भई हो, समरस दिन शशि जीत।
मोह पंक की थिती घटी हो, संशय शिशिर व्यतीत॥
शुभ दल पल्लव लहलहे हो, आयो सहज बसन्त।
सुमति कोकिला गहगही हो, मन मधुकर मयमंत॥[1]

बनारसीदास का ब्रह्म घट-घट में वासी था। वे उस विषय में लिखते हैं—

सोहे घट मंदिर में चेतन प्रकट रूप
ऐसो जिनराज ताहि वंदत बनारसी॥

घट मंदिर में स्थित चेतना स्वरूप जिनराज की स्तुति बनारसीदास ने की थी। वे उक्त प्रकार के जिनराज को 'चिदानन्द' की संज्ञा भी देते हैं और उनका माहात्म्य निम्न प्रकार दिखाते है—

चिदानन्द चेतन अलख जीव समैसार बुद्ध रूप अबुद्ध असुद्ध उपजोगी है।
चिद्रूप स्वम्भू चिन्मूरति धरमवंत प्रानवंत प्रानि जंतु भूत भवभोगी है॥

इस प्रकार जिनराज को 'चिदानन्द' कहने वाले प्रथम व्यक्ति बनारसीदास ही नहीं थे अपितु उनसे पूर्व के अनेक विद्वानों ने 'चिदानन्द' स्वरूप की स्तुति की है। जोइन्दु कृत परमात्मप्रकाश के संस्कृत टीकाकार ने प्रारम्भ में सिद्धों को नमस्कार करते हुए लिखा था, "चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने। परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः।"[2] इस प्रकार बनारसीदास के साहित्य को दृष्टिकोण में रखते हुए उन्हें एक श्रेष्ठ जैन मरमी कहा जा सकता है। बनारसी विलास की अध्यात्मगीत, अध्यात्मफाग, बरवा, शिवपच्चीसी, पहेली, शान्ति जिन स्तुति आदि कविताएं रहस्यवाद की कोटि में रखी जा सकती हैं।

1. बनारसीविलास, अध्यात्मफाग, पृ० 153
2. परमात्मप्रकाश, पृ० 1

बनारसीदास की रचनाओं के प्रकाश में आने के बाद जैन कवियों में एक नई जाग्रति आ गई थी। यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाओं को धार्मिकता और आध्यात्मिकता तक ही सीमित रखा था। इस 18वीं शताब्दी के श्रेष्ठ कवियों में **भैया भगवतीदास** का नाम लिया जा सकता है। यह हिन्दी, गुजराती, फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आपकी एकमात्र कृति 'ब्रह्मविलास' प्राप्य है जो भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी गई 67 कविताओं का संग्रह है। इनसे चेतनकर्मचरित, पंचेन्द्रिय सम्वाद, सूबाबत्तीसी, मनबत्तीसी, बाईसपरीषहजय, वैराग्य पच्चीसिका, स्वप्नबत्तीसी, परमात्मशतक, अष्टोत्तरी और आध्यात्मिकपद आदि रचनाएं अत्यधिक आकर्षक हैं। इनकी रचनाएं अत्यधिक सरल भाषा में लिखी गई हैं। ऐसा लगता है कि प्रायः साधारण से साधारण व्यक्ति को वे अपनी रचनाओं का रसास्वादन कराना चाहते थे। उन्होंने लौकिक उदाहरणों द्वारा ही पारलौकिक वस्तुओं की जानकारी कराई है। पाप-पुण्य से अलग रहने की बात जोइन्दु के परमात्मप्रकाश में देख चुके हैं, उसी प्रकार भैया भगवतीदास भी पाप-पुण्य से दूर रहकर ससार का तमाशा देखने की बात कहते है। उनकी 'शत-अष्टोत्तरी' रचना का एक उदाहरण देखिए—

ग्रीष्म में धूप तपै ताबे भूमि भारी जरै,
फूलत है आक पुनि अति ही उमहिकै।
वर्षाऋतु मेघ झरै तामें वृक्ष केई फरै,
जरत जवासा अघ आपुहीं तैं डहिकै।
ऋतु का न दोष कोउ पुण्य-पाप फले दोऊ,
जैसे जैसे किये पूर्व तैसे रहें सहिकै।
केई जीव सुखी होंहि केई जीव दुखी होंहि,
देखहु तमासो 'भैया' न्यारे नैकु रहिकै ॥24॥[1]

'भैया' जी ऋतु का कोई दोष नहीं मानते, सब पुण्य-पाप का फल है। कोई जीव पुण्य के कारण सुखी और पाप के कारण दु.खी होता है अतः वे पुण्य-पाप दोनों से दूर रहने का उपदेश करते हैं। आत्मा को वे सम्बोधन कर कहते हैं कि उसे सांसारिक वैभव का गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि वह एक धूम्र के समान है। उसी को कहते हैं—

धूमन के धोरहर देख कहा गर्व करै,
ये तो छिनमाँहि जाहि पौन परसत हो।

---

1. अनेकान्त, वर्ष 14, किरण 8

संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल-गरसत ही।
सुपने में भूप जैसे इन्द्र-धनु रूप जैसे,
ओस बूंद घूह जैसे दुरै दरसत ही।
एसोइ भरम सब कर्मजाल वर्गणा को,
तामें मूढ़ मग्न होय मरै तरसत ही ॥

आगे एक कुंडली द्वारा वे शरीर को जड़ पदार्थ बताते हुए कहते हैं कि हे आत्मन्! तू पुद्गल मे मत भूल, ज्ञान की सहायता से अपना भ्रम दूर करके निज शुद्ध आत्मतत्त्व को पहचान—आदि।

भैया भरम न भूलिए पुद्गल के परसंग।
अपनो काज संवारिये, आय ज्ञान के संग ॥
आय ज्ञान के संग, आप दर्शन गहि लीजे।
कीजे थिरता भाव, शुद्ध अनुभौ रस पीजे ॥
दीजे चउविधि दान, अहो शिव खेत-बसैया।
तुम त्रिभुवन के राम, भरम जिन भूलहु भैया ॥

इस प्रकार कवि ने अष्टोत्तरी के अनेक पदों द्वारा आत्मबोध कराने का उपदेश दिया है। कविवर के पदों में भक्तिभाव, वैराग्यादि की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। जो लोग सांसारिकता की ओर आकर्षित होकर आत्मा के स्वभाव को भूल जाते है अथवा आत्म रहस्य से सर्वथा अपरिचित रहते हैं, उन्हें संबोधित कर भैया भगवतीदास जी शरीर को परदेशी की संज्ञा देकर कहते हैं—

कहा परदेशी को पतियारो ॥
मन माने तब चले पंथ को, सांझ गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छांड़ि इतही पुनि त्यागि चलै तन प्यारो ॥1॥

दूर दिशावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो।
कोऊ प्रति करो किन किन कोटिक, अंत होयगा न्यारो ॥2॥
... ...
चेतहु चेत सुनहु रे भैया। आपही आप संभारो ॥4॥[1]

कविवर रूढ़िवाद को मानने वाले नहीं थे। उनके समय में अपने-अपने मत-वादों को लेकर झगड़े तक हो जाया करते थे, उनसे उन्हें घृणा थी और वे निष्पक्ष

1. अनेकान्त, वर्ष 14, किरण 8, पृ० 229

दृष्टि से कह देते हैं—

एक मतवाले कहें अन्य मतवारे सब,
मेरे मतवारे पर वारे मत सारे हैं।
एक पंच-तत्त्व-वारे एक एक न्यारे हैं॥
जैसे मतवारे वकैं तैसे मतवारे बकैं,
तासों मतवारे तर्कै बिना मतवारे हैं।
सांति रस वारे कहैं मत को निवारे रहैं,
तेई प्रान प्यारे रहें और सब वारे हैं।

इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि इस संसार में विरले ही होते हैं—

द्वै द्वै लोचन सब धरैं, मणि नहिं मोल कराहिं।
सम्यक्दृष्टि जौहरी, विरले इह जग माहिं॥[1]

कविवर बनारसीदास की तरह ही भैया भगवती ने भी आत्मा को नारी रूप में दर्शाया है। वे कहते हैं—

लाई हों लालन बाल अमोलक, देखहु तो तुम, कैसी बनी है।
ऐसी कहुं तिहुंलोक में सुन्दर और न नारि अनेक धनी हैं।
याही तै तोहि कहूं नित चेतन, याह की प्रीति जो तोसों सनी है।
तेरी औ राधे की रीझ अनन्त, सो मोपै कहूं यह जान गनी है।[2]

इस प्रकार देखा कि 'भैया' जी की कविताओं में साम्प्रदायिकता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। वे 18वीं शती के एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक कवि थे।

उक्त जैन कवियों के अतिरिक्त आनन्दघन नामक एक प्रसिद्ध जैन मरमी (मिस्टिक) हो चुके हैं। इनका समय विवादास्पद होते हुए भी 17वीं शताब्दी माना जा सकता है। लगभग एक जैसे नाम होने के कारण आनंद, घनानन्द और आनन्दघन नाम के कवि एक ही समझे जाते रहे थे। परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) की खोज के वार्षिक विवरणों में आनंद और आनन्दघन की पृथकता मानी गई है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों का ध्यान जैन मरमी आनन्दघन पर किसी कारणवश नहीं पहुंच सका होगा। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में उनका जिक्र तक नहीं किया है। मिश्रबन्धु विनोद में भी थोड़ा-सा संकेत मिलता है, "नाम $\frac{344}{1}$ आनन्दघन ग्रन्थ (1) आनन्दघन बहत्तरी, स्तवावली

1. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 149
2. वही, पृ० 150

रचना-काल-1705, विवरण-यशोविजय के समकालीन थे।"[1] इतिहासकारों को प्रथम तो इसी में संदेह बना रहा कि कोई आनन्दघन नाम के जैन कवि भी हुए या नहीं। पं० नाथूराम प्रेमी ने आनन्दघन को श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के सन्त और यशोविजय के समकालीन लिखा है।[2] मैं समझता हूं कि प्रायः इनके पदों में जैन धर्म के अन्य कवियों की भांति धार्मिक अक्खड़ता का पुट न देखकर ही इतिहासकारों ने इनकी विशेष छानबीन न कर अभेद सिद्ध कर दिया होगा। परन्तु आनन्दघन के प्रारम्भिक पदों को देखकर ही पता चल जाता है कि यह जैन थे। जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के विषय में वे लिखते हैं—

"मनुप्यारा मनु प्यारा ऋषभदेव मनुप्यारा"—पद 101
"ऐसे जिन चरने चित ल्याऊं रे मन"—पद 95
"ए जिन पाय लागरे तूने कहिये केतो"—आदि पद 102

डॉ० क्षितिमोहन सेन का कहना है, "आनन्दघन का जो कुछ परिचय पाया जाता है उससे मालूम होता है कि जैन सम्प्रदाय में ही इनका जन्म हुआ था।"[3]

आनन्दघन की भाषा पर राजस्थानी और गुजराती का बहुत अधिक प्रभाव है। गंभीरविजय जी गणी बुन्देलखण्डी का प्रभाव मानते हैं। परन्तु डॉ० क्षिति-मोहन सेन इनके मत से सहमत नहीं हैं।[4] गंभीरविजय आदि पंडितों ने आनन्दघन के गच्छ में दीक्षा लेने और 'लाभानन्द' नाम रखने की बात भी उठाई है। देखा यह गया है कि उन्होंने अपने पदों में 'आनंदघन' ही नाम दिया है। दादू के शिष्य मस्कीन जी के साथ उनकी भेंट और बातचीत हुई थी। दादू का जन्म 1544 और मृत्यु 1603 ई० में हुई थी। आनन्दघन मस्कीन जी से छोटे थे, इस प्रकार इनका जन्म 1675 ई० माना गया है।[5] अस्तु

आनन्दघन एक साधक सन्त थे। प्रथम वे दर्शन ज्ञान में रुचि लेते दिखाई पड़ते हैं—

"उपजे बिनसे तबहि, उलट-पुलट ध्रुव सत्ता राखे।"

अर्थात् जब उत्पत्ति होती है तभी विनाश होता है और इस उत्पत्ति-विनाश में भी वस्तु की ध्रुवता रहती है। इन रहस्यों को जानने के लिए साम्प्रदायिकता की सीमा से बाहर आना अनिवार्य था। अतः वे लिखते हैं—

---

1. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, द्वितीयवृत्ति, पृ० 428-29
2. पं० नाथूराम प्रेमी, 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास', पृ० 61
3. क्षितिमोहन सेन, 'जैन मरमी आनन्दघन का काव्य' लेख, 'वीणा' पत्रिका, पृ० 5, 1938
4. वही, पृ० 6
5. वही, पृ० 8

"निरपख होइ लखे कोई विरला क्या देखे मत जंकी"

अर्थात् निष्पक्ष होकर विरले ही देखते हैं, मतवाद में पड़कर क्या किया जा सकता है। आनन्दघन ने जप, नियम, प्राणायाम की साधना भी की और कहा कि जो लोग आत्मानुभव के रसिक हैं उन्ही को अद्भुत उपलब्धि होती है क्योंकि वह अनुभव ही अज्ञात तत्व को ज्ञात और अनंत तत्व को उपलब्ध कराता है, वही कहा है—

आतम अनुभव रसिक को अजब सुन्यो विरतन्त
निर्वेदी वेद न करे वेद न करे अनंत।

जब इस प्रकार भी उन्हें शान्ति नही मिली और अन्य भक्तों को श्रीकृष्ण की भक्ति में तल्लीन देखा तो उन्हें श्रीकृष्ण की भक्ति मे भी संकोच नहीं हुआ —

"मार दिल लगा वंशीवारे से"—पद 53

आगे वे पश्चात्ताप करते हैं—

'ब्रजनाथ से सुनाथ बिन हाथों हाथ बिकायो।" पद 6

आनन्दघन ने श्याम को प्राणनाथ कहकर भी पुकारा है—

श्याम सुने निरधार केम मुकी।
कोई नही हूं कौन शू बोलू सहुं आलम्बन टूकी।

प्राणनाथ तुम दूर पधार्या मुकी नेह निराशी।
जण जण जा नित प्रति गुण गोतां जनमारो किय जासी।

× × ×

घटे घटे छो अन्तर्यामी मुझ मां को नहिं देखूं।
जे देखूं ते नजर न आवे प्राण वस्तु न पेखूं।

× × ×

आनन्दघन प्रभु वेग पधारो जिय मन आसा पूरूं॥

इतना सब कह लेने के बाद भी जब वे अपने को हीन मानते हैं तो कहते हैं—

का मांगू गुनहीना
प्रभु के घर छोर रटन करूं॥ पद 26॥

आनन्दघन ने अपनी साधना से समझ लिया कि समस्त विश्व जीवन में सत्य को ही ग्रहण करना अपना कर्त्तव्य समझता है और वही सहज भी है, अतः विश्व को गुरु बनाने की बात उनके मन में बस गई और तब वे कह उठे—

जगत गुरु मोरा, मैं जगत का चेरा
मिट गया वाद-विवाद का घेरा॥ पद 78॥

जगत् को गुरु मानने से समस्त वाद-विवाद मिट गया और तब अज्ञानान्धकार स्वतः हट गया, अनुभव की प्रीति जाग उठी। इसी को निम्न पंक्तियों में देखिए—

जागि अनुभव प्रीति
नींद अज्ञान अनादि की मिट गई निज रीत।
घट-मंदिर दीपक कियो सहज सुजोति स्वरूप ।। इत्यादि, पद 4

और फिर उन्हें विश्व के किसी मत से घृणा नहीं रही—

राम कहो रहिमान कहो कोउ, कोऊ कहो महादेव री।
पारमनाथ कहो कोउ, ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।। पद 67 ।।

आनन्दघन के अनेक भाव कबीर, दादू, रज्जब आदि के भावों से मिलते हैं। प्रियतम कहकर प्रेम के जोर से उन पर अपना अधिकार बताना यती और संन्यासी की बात तो नहीं है, ये सब मरमी संतों की बात है। आनन्दघन के 15वें 16वें पदों में 'प्रियतम' 'स्वामी' आदि सम्बोधन हैं। 37वें पद में जिस प्रकार की बात उन्होंने कही है वह मध्ययुग के भक्तों के अनुकूल है। 38वें पद मे वे भक्त की उस अवस्था में पहुंच जाते है कि लोकलाज का उन्हें कोई ध्यान नहीं रह जाता और वे नटनागर के साथ मिलना चाहते हैं। ये भाव मब मरमियां भक्तों मे ही पाए जाते हैं। 7वें पद में भी प्रेम वाण की सफलता का वर्णन किया है—

"तीर अचूक प्रेम का"

प्रेम का तीर व्यर्थ नही जाता। 57 वें पद में लिखा है ब्रह्म अकेला ही सारे विश्व का खेल कर रहे हैं। 84वें पद में, मतवाले की तरह प्रेम में विभोर होकर उन्होंने सब लोकलाज छोड़ दी है। 92वें पद में प्राणनाथ के दर्शनों की व्याकुलता है। इन सभी दृष्टिकोणों से आनन्दघन एक श्रेष्ठ जैन मरमी थे, इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर और आनन्दघन के अनेक पदो में साम्यता देखी जा सकती है। कुछ पद यहां दिए जाते हैं—

अबधू सो जोगी गुरु मोरा
जो यह पद का करे निबेरा।
तरुवर एक मूल बिन छाड़ो बिन फूले फल लागा।
शाखा पत्र कछु नाहीं वाके अष्ट गगन मुख जागा।
पौ बिनु पत्र करह बिनु तुम्बा बिन जिह्वागुण गावै।
गावनहारक रूप न देखा सतगुरु होइ लखावै।
कबीर-बीजक, शब्द 24

अवधू सो जोगी गुरु मोरा
जो इन पद का करे निवेरा।
तरुवर एक मूलविन-छाया बिन फूले फल लागा।
शाखा पत्र कछु नहि उनके अमृत गगने लागा।

× × ×

घड़ विनु पत्र पत्र बिनु तुम्बा बिन जीभ्या गुन गाया।
गावनवाले को रूप न देखा सुगुरु मोहि बताया॥
आनन्दघन, पद 98

बूझहु पंडित करहु विचारा पुरुषा है कि नारी हो।
ब्राह्मण के घर ब्राह्मणी होती जोगी के घर चेली हो॥
कालिमा पढ़ि भई तुरुकिनी कलि में रहे अकेली हो।
वर नहि वरइ ब्याह नहि करई पुत्र जनमावन हारी हो।
कारे मुडे को एक नहि छाडे अबहू आदि कुवारी हो॥
कबीर-बीजक, शब्द 44

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी।
वामे कोण पुरुष कोण नारी।
बम्हन के घर न्हाती धोती जोगी के घर चेली।
कलमा पढ़-पढ़ भई रे तुरकड़ी तो आप ही आप अकेली।

× × ×

नहि हूं परणी नहि हूं कुंआरी पुत्र जणावन हारी।
काली दाढ़ी को मे कोई नहि छोड्यो तो अजहुं कुंवारी॥
आनन्दघन, पद 99

इसी प्रकार के अनेक पद समान मिलते हैं।

18वीं शताब्दी के कविवर भूधरदासजी और द्यानतरामजी का नाम भी उल्लेखनीय है। भूधरदासजी की आध्यात्मिक रचनाएं साम्प्रदायिकता से कोसों दूर हैं। उनमें आत्म कल्याण की बात कही गई है। इनका एक ग्रन्थ 'पदसंग्रह' है जिसमें कवि के 80 पद, विनती आदि का संग्रह है।[1] एक पद देखिए—

1. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 175

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ।। टेक ।।
पग खूंटे दूय हालन लागे, उर मदरा खखराना ।
छीदी हुई पाखंड़ीपसलीं, फिरे नहीं मनमाना ।। 1 ।।[1] आदि

कविवर भूधरदास के ही समकालीन द्यानतरामजी हुए थे। इनका जन्म सं० 1733 में हुआ था।[2] इनकी रचनाओं का संग्रह 'धर्मविलास' है जो संवत् 1780 में पूर्ण हुआ था। ये भक्ति मार्ग वाले कवि थे।[3] चेतन, अचेतन, आत्मा-परमात्मा की बात इनके आध्यात्मिक पदों में मिलती है। इनके दो पद नीचे दिये जा रहे हैं—

कर कर आतमहित रे प्रानी।
जिन परिनामनि बंध होत है, सो परनति तज दुखदानी ।।
कौन पुरुष तुम कहां रहत हो, किहि की संगति रति मानी ।।
जे पर जाय प्रगट पुद्गलमय, ते ते क्यों अपनी जानी ।।
चेतन-जोति झलक तुझ माहीं, अनुपम सो तैं विसरानी ।।
जाकी पट तर लगत आन नहिं, दीप रतन शशि सुरानी ।।
आप मे आप लखो अपनो पद, द्यानत कर तर मन-वानी ।।
परमेश्वर पद आप पाइये, यों भावे केवल ज्ञानी ।।[4]

इसी प्रकार की बात जैन अपभ्रंश काव्य परमात्मप्रकाश में भी की गई थी। जब आत्मा विशुद्ध हो जाती है तो वह संसार के भ्रमण से छुटकारा पा जाती है। द्यानतजी का एक पद और देखिये—

अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों कर देह धरैंगे।
उपजे मरे काल तें प्राणी, ताते काल हरैंगे।
राग दोष जगबन्ध करत हैं, इनको नाश करैंगे।
देह विनाशी मैं अविनाशी, भेद ज्ञान पकरैंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे हो निखरैंगे।

---

1. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० 175
2. वही
3. बनारसीविलास, प्रस्तावना, पृ० 18
4. अनेकान्त, वर्ष 8, किरण 3, पृ० 132

मेरे अनन्तवार बिन समझें अब सब दुख विसरेंगे।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरें सुमरेंगे ।।[1]

इन सब कवियों और उनके साहित्य का परिचय प्राप्त कर लेने के बाद हम कह सकते हैं कि ये सब जैन अपभ्रंश काव्य का परवर्ती विकसित रूप है, यहां प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

1. अनेकान्त, वर्ष 8, किरण 3, पृ० 132

रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

जैन रहस्यवाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव दिखाने के पूर्व अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में विचार कर लेना होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने 'आदिकाल' के अन्तर्गत अपभ्रंश-साहित्य को रखा है। कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी-साहित्य का अंग माना है तो कुछ ने मूल स्रोत। इससे इतना सिद्ध होता है कि दोनों का परस्पर में ऐतिहासिक सम्बन्ध है। हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश-साहित्य के प्रभाव वाला प्रश्न कुछ थोथा पड़ गया है, क्योंकि हिन्दी-साहित्य के उद्‌भव और विकास के मूल में अपभ्रंश-साहित्य की प्रतिष्ठा हो चुकी है।[1] हिन्दी साहित्य प्रायः चार कालो मे बांटा जाता है—आदिकाल या वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल। इनमें प्रथम तीन कालों पर स्पष्टरूपेण अपभ्रंश का प्रभाव है।

अपभ्रंश-साहित्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियां देखी जाती हैं – एक रूढ़ि पोषक और दूसरी स्वतन्त्र विचारधारा की पोषक। हिन्दी-साहित्य मे भी इसका विकास हुआ। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विषय को लेकर संकेत किया है कि, "हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न जातियो की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। (1) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकता-मूलक, शृंगारीकाव्य, नीति विषयक फुटकर रचनाएं और लोक-प्रचलित कथानक, और (2) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनियां सन्तों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र-विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्य की साधना योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएं।"[2] वैसे यदि देखा जाय तो मूलतः पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अन्तर नहीं मालूम होता। अपभ्रंश साहित्य में सर्वाधिक जिस छंद का प्रयोग

---

1. 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ० 238
2. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 29

हुआ है, वह है 'दोहा' छंद। यही कारण है कि उसे 'दूहा-साहित्य' कहा जाता है। इस 'दूहा-साहित्य' को डॉ० प्रेमसागर ने दो भागो में विभक्त किया—एक तो भाटों द्वारा रचा गया जिसमें श्रृंगार, वीर आदि रसों की भावात्मक अभिव्यक्ति है। दूसरा, वह जिसके रचयिता बौद्ध और जैन साधक थे।[1] हिन्दी का दोहा अपभ्रंश की देन है। इस विषय में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का कथन ध्यान देने योग्य है—'गाथा' प्राकृत का उपलक्षण है और दोहा अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का, पुरानी हिन्दी विद्या 'दोहा-विद्या' कहलाती थी।[2] इस विषय में और अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, अनेक मान्य विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है। अब, हम कतिपय जैन मर्मियों के उपलब्ध रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य का संक्षिप्त परिचय देकर उसके हिन्दी पर प्रभाव की चर्चा करेंगे।

जैन अपभ्रंश साहित्य की विपुल राशि का पता जैन-ग्रन्थागारों की प्रकाशित सूचियों से चलता है और न जाने कितनो की सूचिया अभी प्रकाश में आने को शेष हैं। जैन साधकों का साहित्य यत्र तत्र बिखरा हुआ है, फिर भी जो प्रकाश में आता गया है वह हमारे सामने है। बहुत-से ग्रन्थ अभी हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध होते जा रहे हैं, जिनका उद्धार होना शेष है। इस विषय में प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रास्ताविक में विशद प्रकाश डाला गया है।

जैन रहस्यवादी अपभ्रंश रचनाओं मे मुनि योगीन्दु कृत परमात्मप्रकाश जो उन्होंने अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को अध्यात्म-विषय समझाने को लिखा था, योगसार (इन्हीं की कृति है), मुनि रामसिह कृत पाहुड़दोहा, महात्मा आनन्दतिलक कृत आणंदा, देवसेन कृत सावयधम्म दोहा, सुप्रभाचार्य कृत वैराग्यसार और मुनि महचन्द कृत दोहा पाहुड़ आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि सावयधम्म दोहा को उक्त रचनाओं की श्रेणी में रखना उपयुक्त नही लगता फिर भी उसमें देवसेन की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। कवि महचन्द कृत दोहा पाहुड़ और सुप्रभाचार्य कृत वैराग्यसार के अतिरिक्त उक्त सभी रचनाओ के विषय में मैं अपने प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में विस्तार से विवेचन कर चुका हूं[3] अतः यहां दोहा पाहुड़ और वैराग्यसार ही विवेच्य हैं।

वैराग्यसार[4] सुप्रभाचार्य कृत 77 पद्यो की रचना है। लेखक के 11वी से 13वीं शताब्दी के बीच का होने की कल्पना की गई है।[5] रचना का जैसा नाम

1. डॉ० प्रेमसागर जैन, परिषद-पत्रिका, पृ० 32
2. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पुरानी हिन्दी, पृ० 106
3. देखिये तृतीय अध्याय
4 प्रो० एच० डी० वेलणकर द्वारा संपादित और 'एनल्स ऑफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीच्यूट' से प्रकाशित।
5. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 279

है वैसा ही उसका विषय है। कवि पहले पद्य में ही वैराग्य का उपदेश देता है—

'इक्कहिं घरे वधामणा अर्णाहिं घरि धाहहि रोविज्जई।
परमत्थइ सुप्पउ भणइ, किम वइरायभाउ ण किज्जइ ॥ 1 ॥

अर्थात् एक घर में बधाई मंगलाचार है और दूसरे घर में जोरों से रोया जा रहा है। सुप्रभ परमार्थ के लिए कहते हैं कि क्यों वैराग्य धारण नहीं करते ? सुप्रभाचार्य अपने पूर्ववर्ती साधकों के स्वर में ही बोलते हैं। संसार की असारता के विषय में वे कहते हैं—

सुप्पउ भणई मा परिहरहु पर उवचार (यार) चरत्थु।
ससि सूर दुहु अंथवणि अणहं कवण थिरत्थु ॥ 3 ॥

अर्थात् सुप्रभा कहते है कि परोपकार का आचरण मत छोड़ो। संसार क्षणिक है, जब चन्द्र और सूर्य दोनों अस्त हो जाते हैं तो अन्य कौन स्थिर रह सकता है ? निरंजन का उल्लेख भी इनकी रचना में मिलता है—

जसु लग्गइ सुप्पउ भणई, पिय-घर-घरणि-पिसाउ।
सो किं कहिउ ममायरइ, मित णिरंजण भाउ ॥ 61 ॥

अर्थात् जिसके पीछे गृह-गृहिणी रूपी पिशाच लग गया है वह निरंजन का कैसे ध्यान कर सकता है ? इनके काव्य में जिनेन्द्र भक्ति स्वीकार की गई है। कवि ने अपनी रचना द्वारा वैराग्य भावना का उल्लेख कर गृहस्थों को आत्मदर्शन की ओर प्रेरित किया है।

मुनि रामसिंह कृत दोहापाहुड़ के अतिरिक्त एक दोहापाहुड़ महचन्द कृत भी उपलब्ध हुआ है। इनकी हस्तलिखित प्रति जो विक्रम सं० 1602 की है, जिसके आमेर शास्त्र भण्डार में होने का उल्लेख प्रो० हरिवंश कोछड़ ने किया है।[1] इसकी प्रति सामने न होने के कारण इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता। डॉ० प्रेमसागर ने इस कृति को 'परमात्मप्रकाश' से प्रभावित लिखा है। उनका कहना है कि ग्रन्थकार ने दोहा संख्या 328 में 'जोइन्दु' का स्मरण किया है।[2] इस रचना में 333 दोहे हैं और डॉ० प्रेमसागर के अनुसार 'यह भी रहस्यवाद का उत्तम निदर्शन है।'[3]

सिद्धों के रहस्यवाद का प्रभाव निर्गुण धारा के सन्त कवियों पर माना जाता

---

1. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 283
2. परिषद-पत्रिका, पृ० 34
3. वही

रहा है, जैन रहस्यवाद के प्रभाव की चर्चा अब तक नहीं हुई है, यहां उसी को दिखाने का मेरा लक्ष्य है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा। निर्गुण भक्ति के दो भेद हैं—ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा (सूफियों की),[1] सगुण-भक्ति धारा भी राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा दो भागों में विभक्त हुई। इनमें से निर्गुनियां सन्त-काव्य जैन अपभ्रंश के दूहा-साहित्य से प्रभावित हुआ। दोनो की अधिकांश प्रवृत्तिया समान हैं। इन प्रवृत्तियो की समानता के विषय में डॉ० हीरालाल जैन लिखते हैं, "इनमें वही विचार-स्रोत पाया जाता है, जिसका प्रवाह हमें कबीर की रचना में प्रचुरता से मिलता है।"[2] पं० परशुराम चतुर्वेदी का कहना है, "कबीर साहब की रचनाओं के कई अंशो का साम्य, इसी प्रकार जैन मुनियो की कृतियों के साथ भी प्रदर्शित किया जा सकता है।"[3] डॉ० हरिवंश कोछड़ का कथन भी यही सिद्ध करता है। उनका कथन है, "कबीर आदि सन्तों की विचारधारा पर अपभ्रश-कवियों की आध्यात्मिक और उपदेशात्मक प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।"[4] डॉ० रामसिंह 'तोमर' का भी कथन है कि, "जो हो, हिन्दी-साहित्य में इस रहस्यवाद-मिश्रित परम्परा के आदि प्रवर्तक कबीरदास है और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्ती रूप जैन रचनाओ मे प्राप्त होता है।"[5] इस प्रकार उपर्युक्त कथनों से भी निर्गुण-काव्य धारा पर जैन अपभ्रंश काव्य का प्रभाव परिलक्षित होने में कोई सन्देह नही रह जाता।

निर्गुण सम्प्रदाय के उपासकों मे कबीर का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'निर्गुण' का अर्थ गुणातीत और 'गुण' का अर्थ प्रकृति के विकार-सत्व, रज और तम किया है।[6] संसार प्रकृति के विकारों से युक्त है और ब्रह्म उससे रहित है। कबीर का सिद्धान्त इसे स्वीकार नहीं करता। कबीर घट-घट में निर्गुण राम का वास अवश्य मानते हैं परन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि 'गुण' 'निर्गुण' का और 'निर्गुण' 'गुण' का विरोधी नही है। इस सम्बन्ध में कबीर का कथन है—

---

1. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० 1999, पृ० 80
2. डॉ० हीरालाल जैन, 'अपभ्रंश-भाषा और साहित्य', काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 50, अंक 3-4, पृ० 107
3. कबीर-साहित्य की परख, पृ० 32
4. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० 391
5. डॉ० रामसिंह तोमर
6. डॉ० द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई, 1955 ई०, पृ० 204

संतों, धोखा कासूं कहिये
गुण में निरगुण निरगुण में गुण
बाट छांड़ि क्यूं बहिये ?[1]

सारांश यह है कि 'निर्गुण में गुण और गुण में निर्गुण' के अतिरिक्त सब धोखा है। कबीर कभी द्वैत को मानते हैं तो कभी अद्वैत को। उनका ब्रह्म सर्वत्र व्यापक था, वह भावरूप भी था। और अभाव रूप भी था। भीतर से बाहर और बाहर से भीतर तक फैला था। शायद इसी से उन्होंने कहा था—'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल'। अद्वैतवाद के सिद्धान्त का जब वे प्रतिपादन करते हैं तब कहते हैं—

हम सब माँहि सकल हम मांही।
हम थैं और दूसरा नाहीं।
तीन लोक में हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा ॥[2] इत्यादि

कबीर के उक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है कि उनका सिद्धान्त अनेकान्तात्मक था। जिस प्रकार से अनेकान्तवाद मे दो विरोधी तत्त्व अपेक्षाकृत दृष्टि से एक साथ रह सकते हैं उसी प्रकार कबीर के ब्रह्म में भी थे।

कबीरदास पर किसी एक सम्प्रदाय का प्रभाव भले ही लक्षित न किया जा सकता हो, परन्तु किन्हीं सम्प्रदायों का विशेष प्रभाव मानना होगा। यों कबीर अनुभूति को प्रधानता देने वाले सन्त थे। उन्हें जहां से सत्य की झलक मिलती, ग्रहण करते थे। कबीर पर जिन सम्प्रदायों का प्रभाव है उनमें नाथ और सूफी सम्प्रदायों को प्रमुखता दी जाती है। नाथ सम्प्रदाय में पारस और नेमि नामक दो सम्प्रदाय थे जिनका सम्बन्ध जैन सम्प्रदाय से था। डॉ० प्रेमसागर ने नाथ-सम्प्रदाय का सम्बन्ध जैन परम्परा से माना है।[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार नाथ सम्प्रदाय में जो 12 सम्प्रदाय अन्तर्मुक्त किये गये थे, उनमें पारस और नेमि-सम्प्रदाय भी थे। दोनों जैन थे। इसी कारण नाथ-सम्प्रदाय में अनेकान्त का स्वर अवश्य था, भले ही उसका स्वर अस्पष्ट रह गया हो।

यही अनेकान्त का स्वर अपभ्रंश के जैन दूहा-साहित्य में पूर्णरूपेण मिलता है। कबीर का निर्गुण ब्रह्म उनके पूर्ववर्ती परमात्मप्रकाशकार के यहां 'निष्कल'

1. कबीर-ग्रन्थावली, पद 180
2. डॉ० रामकुमार वर्मा, 'कबीर का रहस्यवाद' से उद्धृत, पृ० 140
3. परिषद्-पत्रिका, पृ० 35

की संज्ञा से युक्त था। 'निष्कल' को योगीन्दु ने निरंजन भी कहा है। उनके अनुसार निरंजन वह होता है—

> जासु ण वण्णु ण गंधु रस जासु ण सद्दु ण फासु।
> जासु ण जम्मणु परणु ण वि णाउ निरंजणु तासु।

अर्थात् जिसके न वर्ण होता है, न गंध, न रस, न शब्द, न स्पर्श और न जिसके जन्म मरण ही होता है वह निरंजन कहलाता है। 'निष्कल' के ही लिए आत्मा, सिद्ध, जिन आदि का जोइन्दु ने प्रयोग किया है। मुनि रामसिंह ने पाहुड़ दोहा के 100 वें दोहे में 'निर्गुण' का प्रयोग किया है जो निष्कल के प्रयोग जैसा ही है। मुनि रामसिंह के निम्न दोहे जैसा कबीर के एक दोहे का भाव है। दोनों पद्य नीचे दिये जाते हैं—

> हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
> एतहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥ 100 ॥

कबीर का दोहा देखिए—

> जा कारणि में ढूंढ़ता, सम्मुख मिलिया आइ।
> घन मैली पिउ उजला, लागि न सकों पाइ ॥

अर्थात् जिसके लिए मैं भूलती भटकती फिरी वही जब मेरे समक्ष उपस्थित हो गया तो मैं उसके चरण तक न छू सकी क्योंकि वह जहां निर्मल था वहां मैं मैली थी अत: उनका स्पर्श न कर सकी।[1]

जब जैन मरमी जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालय में है, न शिक्षा में, न चन्दन प्रभृति लेप्य पदार्थों में और न चित्र में—वह अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव तो समचित में निवास करता है—

> देउण देउले णवि सिलए, णवि लिप्पइ ण वि चित्ति।
> अखय णिरज्जणु णाणघणु, सिउ संठिउ समचित्ति ॥[2]

तो कबीर के निम्न दोहे पर हठात् दृष्टि रुक जाती है—

> कबिरा दुनियां देहुरे, सीस नवांवण जाइ।
> हिरदा भीतर हरि बसै, तू नाही सों ल्यों लाइ ॥[3]

1. कबीर-ग्रन्थावली, साखी 36
2. परमात्मप्रकाश, 1/123
3. कबीर-ग्रन्थावली, भ्रम विधोंसण को अंग, 11वां दोहा

अर्थात् यह दुनिया मंदिरों के आगे शीश नवाने जाती है, परन्तु हरि तो हृदय के भीतर रहते हैं, तू उसी में लौ लगा। कबीर आदि संतों ने 'साहिब' को हृदय के भीतर देखने को कहा। तीर्थ यात्रा आदि सभी को उन्होंने व्यर्थ समझा था। इसी प्रकार पत्थर की मूर्ति पूजने वालों को कबीर ने सावधान करते हुए लिखा है—

पाहण केरा पूतला, करि पूजें करतार।
इही भरोसे जे रहे, ते बूड़े काली धार ॥[1]

कबीर ही नही दादू भी इस विषय में चुप नहीं रहे—कोई द्वारका दौड़ता है, कोई काशी और कोई मथुरा, किन्तु साहिब तो घट के भीतर मौजूद है—

दादू कोई दौड़े, द्वारका, केई कासी जाहि।
केई मथुरा को चलें, साहिब घटि ही मांहि ॥[2]

योगीन्दु ने योगसार में लिखा है, श्रुत केवली ने कहा है कि तीर्थों में देवालयों में देव नहीं है, वह तो देह-देवालय में विराजमान रहता है, इसे निश्चित समझो, यह सांसारिक जीव उसके दर्शन मन्दिरों में करना चाहता है, यह उपहासास्पद है—

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलिवुत्तु।
देहादेवलि देउ जिणु एहउजाणि णिरत्तु ॥ 42 ॥

देहा देवलि देउ जिणु जणु देवल हिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥ 43 ॥[3]

मुनि रामसिंह का कथन है—

मूढ़ा जोवइ देवलई योर्यहिं जाई कियाई।
देह ण पिच्छइ जप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाई ॥

अर्थात् मूर्ख लोग शिव को देवलायों में ढूंढ़ते फिरते हैं, अपने देह-मंदिर को नहीं देखते जहां वह स्थित है।[4]

---

1. कबीर-ग्रंथावली
2. यशपाल संपादित, दादू की वाणी, पृ० 16, परिषद-पत्रिका पृ० 38 से उद्धृत
3. योगसार, पृ० 320, दो० 42-43
4. पाहुड़ दोहा, दोहा 180

महात्मा आनन्दतिलक का कथन है—

अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढ़ा मर्राहि भमंतु।
अप्पा बिन्दु न जाणहीं आणंदा घट महिं देउ अणंतु ॥

अर्थात् मूर्ख जन व्यर्थ में तीर्थों का भ्रमण करते-करते मर जाता है पर आत्मा के एक अंश को भी नही जान पाता जो कि उसके अन्दर ही देवरूप मे विद्यमान है।[1]

कबीर जहां कहते हैं कि मेरा मन राम का स्मरण करते-करते स्वयं राम स्वरूप हो गया, अब भला मैं किसके आगे सिर झुकाऊं?

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।
जब मन रामहि हुवै रह्या, सीस नवावों काहि ॥[2]

इससे पूर्व ही मुनि रामसिंह कह चुके थे—

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु।
णिय देहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु ॥

अर्थात् जिन कहते है वन्दना करो। वन्दना करो। किन्तु यदि अपने शरीर के भीतर निवास करने वाले को ही तत्वत' जान लिया तो भला किसकी वन्दना की जाय?[3]

प० रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करने की बात का आगमन सूफियो से माना है। उनके अनुसार भारतीय भूमि मे उसका बीज भी नहीं था। कबीर दास ने अव्यक्त ब्रह्म को प्रेम का विषय बनाया। आत्मा से प्रेम परक प्रणय की परम्परा जैन काव्यों में उपलब्ध होती है और उसका प्रारम्भ जैन अपभ्रंश काव्यों के बहुत पूर्व ईसा की प्रथम शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द से मानना होगा। हम इस बात की चर्चा तृतीय अध्याय में कर चुके है कि मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहा पर आचार्य कुन्दकुन्द के भाव पाहुड़ का प्रभाव है। कबीरदास ने अपने निर्गुण-भक्ति क्षेत्र में दाम्पत्य रति का रूपक प्रस्तुत किया। उन्होंने ब्रह्म को पति और जीव को पत्नी का रूप दिया—

'हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया'
आदि को दृष्टिकोण में रखकर लिखा।

---

1. आणंदा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक 1, वर्ष 64, सं० 2016
2. कबीर ग्रंथावली, साखी 8, पृ० 5
3. पाहुड़ दोहा, दो० 41, पृ० 14

इस पद्धति का रूप हमें पाहुड़ दोहा के 100वें दोहे में मिलता है। आगे के जैन हिन्दी कवियों ने इस परम्परा को खूब निभाया। उनमें सर्वप्रमुख आनंदघन थे, उनकी आत्मारूपी दुलहिन ने परमात्मा रूपी पति से प्रेम किया। वैसे, बनारसी दास, भैया भगवतीदास, द्यानतराम आदि हिन्दी के जैन कवियों ने आध्यात्मिक भक्ति में दाम्पत्य रति को स्थान दिया। कविवर बनारसीदास आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति का रूप देकर विरह वर्णन करते हैं—

"मैं विरहिन पिय के आधीन
यों तलफों ज्यों जल विन मीन।" आदि

किन्तु यहां एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि रूपकों में अश्लीलता नहीं आने पाई है। आध्यात्मिकता में पत्नी-पति का प्रेम पवित्र रहा।

यहां हम रहस्यवादी तत्त्वों पर विचार करेंगे। डॉ० प्रेमसागर ने रहस्यवाद के विषय में लिखा है, "ब्रह्म के प्रति प्रेम की भावनात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद कहलाती है।"[1] रहस्यवादी के सम्बन्ध में तीन बाते जानने योग्य हैं—रहस्यवाद विषयक तथ्य की गवेषणा करना कि ऐसी शक्ति कौन है जो छिपी रहती है, परदे के भीतर है, उसे खोजने में जो लम्बी यात्रा करनी पड़ती है उसको कैसे तय किया जाय और फिर उस लम्बी यात्रा को पार करने का साधन मिलने पर एक निश्चित उद्देश्य पर पहुंच जाना। यही रहस्यवाद का मर्म है। नीचे क्रमशः तीनों की व्याख्या की गई है—

देहा देवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइअ सत्ति सिउ सिग्घु गवेसइ भेउ॥

अर्थात् देह रूपी देवालय मे जो शक्तियों सहित देव निवास करता है, हे जोगी! वह शक्ति शिव कौन है? उसकी गवेषणा कर।[2] यह खोज हुई। दूसरी यात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

पंच वलद्दण रक्खिई णंदणवणु ण गओसि।
अप्प ण जाणिउ ण वि परू एयइ प्रव्यइओ सि॥

अर्थात् न तो तूने पांच बैल रक्खे, न नन्दनवन की यात्रा की, न अपने को जाना न दूसरे को, फिर क्या ऐसे ही यात्री बन गया।[3]

1. परिषद् पत्रिका, पृ० 39
2. पाहुड़ दोहा, दोहा 53
3. वही, दो० 44

तृतीय अवस्था—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिलक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंत महे मिलिउ ण अंगति अंगु ।

अर्थात् मैं सगुणी हूं मेरा प्रिय निर्लक्षण नि.संग है । एक ही अंग में निवास करते हुए भी मेरा अग उसके अग से नहीं मिला ।[1] जब अंग से अंग मिल जाता है तब वह 'समरस' की स्थित आ जाती है और रहस्यवादी अपने निश्चित स्थान पर पहुंच जाता है ।

कबीर के रहस्यवाद मे भी सबसे महत्त्वपूर्ण बात 'समरस भाव' की है। यह 'समरस' भाव कब होता है ? जबकि आत्मा और परमात्मा मिलकर एकाकार हो जाते है। एकाकार की बात तभी उठती है जब ब्रह्म या परमात्मा का ही अंश आत्मा को माना जाय । इस एकाकारता को लेकर जैन परम्परा नहीं चली, कारण उसका यही है कि वहा अनंत आत्माएं है जो विशुद्धावस्था मे स्वयं परमात्मा बन जाती है, उनमे वह शक्ति विद्यमान है। आत्मा के तीन भेद है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ।[2] आत्मा का शुद्ध रूप ही परमात्मा है ।[3] रहस्यवाद में बहिरात्मा और अन्तरात्मा को शामिल माना गया है । इस प्रकार वहां आत्मा और परमात्मा ही रह जाते हैं। इस प्रकार एक अनुभूतिकर्त्ता है और दूसरा अनुभूति-तत्त्व ।

यहां आत्मा परमात्मा बनती है अथवा परमात्मा में मिलती है इसका विवाद नही उठाना है, जो भी हो समरसता और उससे प्रगट अनुभूति का आनन्द जैन काव्यों मे उपलब्ध होता है । कबीर ने लिखा है—

पाणी ही तें हिम भया, हिम है गया विलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ ।।[4]

अर्थात् पानी से ही हिम बना और हिम फिर पिघल कर पानी बन गया, जो कुछ था वह वही बन गया इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार जैन कवि बनारसीदास ने कहा है[5]—

"पिय मोरे घट में पिय माहिं, जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ।'

1. पाहुड़दोहा, 100वां दोहा
2. योगसार, दोहा 6, पृ० 372
3. परमात्मप्रकाश, 1/11 व 15
4. कबीर-ग्रन्थावली, परचा को अंग, 17 वां दोहा
5. बनारसीविलास, पृ० 161

अर्थात् प्रियतम मेरे हृदय में है और मुझे जलतरंग के समान कोई द्विविधा-विकल्प नहीं है। चूंकि जलतरंग जल में ही समा जाती है।

द्विविधा को मिटने वाली बात भगवतीदास भैया ने भी कही है—

जब तें अपनो जिउ आप लख्यो,
तब तें जो मिटी द्विविधा मन की।[1]

उक्त हिन्दी कवियों की यह समरसता अपभ्रंश के दूहा-काव्य में ज्यों की त्यों मिल जाती है। योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में लिखा है—

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स,
हि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥

अर्थात् मन परमेश्वर में और परमेश्वर मन में मिलकर समरस हो गये, तो फिर मैं अपनी पूजा किसे चढ़ाऊं ?[2] ठीक इसी प्रकार मुनि रामसिंह ने भी लिखा है—

मणुमिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स,
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुंज चढावउं कस्स।[3]

अर्थ ऊपर के पद्य के ही अनुसार है। मुनि आनन्दतिलक भी पीछे क्यों रहते—

समरस भावे रंगिया अप्पा जेखइ सोई,
अप्पउ जाणइ परहणई आणंद करई णिरालंब होई।[4]

आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न आनन्द के विषय में बनारसी दास ने लिखा—

अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की केलि यहे कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत की कौर है।

उसके स्वाद की महत्ता इसी से आंकी जा सकती है कि वह कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत जैसा लगा। समरसता से उत्पन्न होने वाले आनन्द की बात कबीर

---

1. भगवतीदास : शत अष्टोत्तरी, 35 वां कवित्त
2. परमात्मप्रकाश, 1/123
3. पाहुड़ दोहा, 49 वां दोहा
4. आणंदा, वासुदेवसिंह का लेख, ना० प्र० प० काशी, पृ० 63

और बनारसीदास आदि कवियों से कई सौ वर्ष पहले आचार्य योगिन्दु ने कही—

> णिच्चु णिरंजणु णाणमउ केवल सुक्ख सहाउ ।
> केवल वीरिउ सो मुणहि जा जि परावरु भाउ ॥[1]

अर्थात् परमात्मा परमानन्द स्वभाव वाला है आदि । एक दूसरे दोहे में उन्होंने आत्मा को पूर्ण सुख रूप बताया—

> केवल दंसण णाणमउ केवल सुक्ख सहाउ ।
> केवल वीरिउ सो मुणहि जाजि परावरु भाउ ॥

अर्थात् जो केवलज्ञान केवलदर्शनमयी है, अर्थात् जिसके परवस्तु का आश्रय नहीं, जिसका केवल सुख स्वभाव है और जो अनंत वीर्य वाला है वही शुद्धात्मा है। परमानन्द और इस केवल सुख स्वभाव वाले ब्रह्म से जिसका तादात्म्य होगा, वह भी तदाकार हो जायगा । इसी आनन्द को स्पष्ट करने के लिए जोइन्दु लिखते है—

> जो समभाव परिट्ठियहं जोइहं कोइ फरेह ।
> परमाणंदु अणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥[2]

अर्थात् जो समभाव में प्रतिष्ठित योगियों के चित्त में परमानन्द करता हुआ कोई स्फुरायमान होता है, वही परमात्मा है। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि उसे परमात्मा मिल गया है। परमानन्द का और परमसुख के 'परम' शब्द के विषय पर किसी को संदेह न रहे अतः जोइन्दु ने इसे भी एक दोहे से स्पष्ट कर दिया—

> जं सिव दंसणि परम सुहु पावहि झाणु करंतु ।
> त सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥
> जं मुणि लहइ अणंत जग, णिय अप्पा झायंतु ।
> तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंति ।[3]

अर्थात् शिव-दर्शन से जिस परमसुख की प्राप्ति होती है, वह इस भुवन में कहीं नही है। उस अनन्तसुख को इन्द्र करोड़ों देवियों के साथ रमण करने पर भी प्राप्त

---

1. परमातमप्रकाश, 2/17
2. परमातमप्रकाश, 1/35
3. वही, 1/116-17

नहीं कर पाता। ठीक यही बात मुनि रामसिंह ने अपने पाहुड़ दोहा में लिखी है।

जं सुह विसय परंमुहउ णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु॥[1]

उन्होंने इसके आगे कुछ और भी कहा—"जिसके मन में परमात्मा का वास हो गया वह परमगति पा जाता है।"[2] अब यह सिद्ध हो गया कि परमगति, परमसुख और परम आनन्द एक ही वस्तु के पर्यायवाची हैं। महात्मा आनन्दतिलक ने "अप्प णिरंजणु परम सिउ अप्पा परमाणंद"[3] लिखकर आत्मा को निरंजन, शिव और परमानन्द कहा है। ब्रह्मदेव ने 'परमात्मप्रकाश' की अपनी संस्कृत वृत्ति में 'पर' शब्द का अर्थ 'स्वसंवेद-परमात्मा' किया है। जोइन्दु पाप और पुण्य के अतीत उस महायोगी पर बारबार बलि गए हैं, जो उजाड़ को बसाता है, और बस्ती को शून्य करता है—

उब्बस बसिया जो करइ बसिया करइ जु सुण्णु।
बलि किज्जहुं तसु जोइयहि, जासु ण पाउ ण पुण्णु॥[4]

गुरु गोरखनाथ ने भी कुछ इसी ढंग से उस महायोगी की वंदना की थी, जिसने बस्ती को उजाड़ किया, और उजाड़ को बस्ती बनाया है—'जो धर्म और अधर्म से परे है, पाप और पुण्य से अतीत है। काम, क्रोध आदि विकारों की रंगस्थली यह काया ही सांसारिक दृष्टि से एक बसती है। इसे छोड़कर जब योगी का चित उस शून्य निरंजन स्थान पर पहुंचता है जहां समस्त इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं तो योगी वस्तुत. उजाड़ को बसाता है'—

कामक्रोध विकारभातभरितं पिण्डं जहात्मात्मना,
शून्ये व्योम्नि निरंजने च नियतं चित्रं दधात्यादरात्।
इत्थं शून्यंशून्यतां नयति यो पूर्णं च सच्छून्यताम्,
धर्माधर्मविवर्जितं तमनिशं वंदे परं योगिनम्॥[5]

---

1. पाहुड़ दोहा, तीसरा दोहा
2. वही, 66वां
3. आणंदा, श्री वासुदेव सिंह, ना० प्र० पत्रिका सं० 2016, वर्ष 64, अंक 1
4. परमात्मप्रकाश, 2/160
5. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्मसाधना' 'जैनमरमी', पृ० 49 प्रथम संस्करण, साहित्य भवन इलाहाबाद, 1952 ई०

जैन मरमी जोइन्दु जब यह कहते हैं कि मनुष्य शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी नहीं समझ पाता, जड़ ही रहता है, कि जीव ही परमात्मा है, शरीर में ही उसका वास है—

सत्थु पढंतु वि होइ जड्ड, तो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसन्तु वि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु ॥[1]

तब वे शैव या वैष्णव साधकों के बहुत दूर नहीं रह जाते।

जैन साधकों का मुक्त आत्मा एक परमात्मा के रूप में स्थित हो गया नही, यह बात सामान्यजन को विशेष महत्त्व नहीं रखती। वे तो परमसत्य की ही बात सोचते हैं, साधक किसी मार्ग से उस सत्य तक पहुंचे। वस्तुतः सभी ने इस बात को स्वीकार किया कि इस शरीर में ही देवता का वास है, सामरस्य भाव से बढ़कर आनंद दूसरा नहीं है। आत्मा सामरस्य भाव से ही परमानन्द स्वरूप परमात्मा बन जाती है। सांसारिक सभी वस्तुएं भ्रम और व्यर्थ है जिनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नही। सबका सब यहीं छूट जाता है। जोइन्दु कहते है—"यह जो चेला चेलियों का ठाट-बाट है, पंथियों का ढेर देखकर निस्सदेह प्रसन्न होता है, ज्ञानी जन इन सभी को बंध का कारण मानता हुआ इनसे शर्माता है—लज्जित होता है।" वही—

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढु णिमन्तु।
एवहि लज्जइ णाणियउ, बंधह हेउ मुणन्तु ॥[2]

कबीरदास ने आत्मा के परमात्मा से मिलने को अमृत का धारासार बरसना कहा है। इस अमृत का ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। कबीर ने इस अमृत को छककर पिया है—

अमृत बरिसै हीरा निपजै घंटा पड़े टकसाल।
कबीर जुलाहां भया पारषु अनभै उतर्‌या पार ॥[3]

इस अमृत का पान बनारसीदास आदि हिन्दी जैन कवियों ने भी किया था। परन्तु उनके बहुत पूर्व अपभ्रंश-साहित्य में इस अमृत का पान किया जा चुका था। महात्मा आनन्दतिलक ने लिखा है कि "ध्यान-रूपी सरोवर में अमृत-रूपी जल भरा है, जिसमें मुनिवर स्नान करते हैं और अष्ट कर्मों को धोकर निर्वाण प्राप्त करते हैं"—

---

1. परमात्मप्रकाश, 2/83
2. परमात्मप्रकाश, 2/88
3. डॉ॰ हजारीप्रसाद, कबीरवाणी : कबीरदास, पृ॰ 290

ज्ञाण सरोवर अमिय जलु मुणिवर करइ सह्णाणु।
शुभ कर्म मल धोवहिं आणंदा रे ! णियडा पांहु णिवव्णु ।।[1]

योगीन्दु ने अमृत-सरोवर को दृष्टान्त द्वारा प्रगट किया है।[2] मुनि रामसिंह आदि प्रमुख जैन मरमियों ने भी इस विषय पर लिखा था।

मध्यकालीन संत कवियों में ब्रह्म को अनेक नामों से सम्बोधित करने की परंपरा थी। कबीर का राम निरंजन है, जिसका रूप नहीं, आकार नहीं, जो समुद्र नहीं, पर्वत नहीं, धरती नहीं, आकाश नहीं, सूर्य नही, चन्द्र नहीं, पानी नहीं, ऐसा विलक्षण स्वरूप है वह निरंजन। कबीर ने विष्णु, ब्रह्मा, गोविन्द आदि सभी का स्वरूप निर्धारण किया है। जैन कवि आनन्दघन ने भी इसी प्रकार के पर्यायवाची शब्दों से अपने ब्रह्म को सम्बोधित किया है परन्तु उनका अर्थ उन्होंने भिन्न-भिन्न किया है।

निज पद रमे राम सो कहिये,
रहिम करे रहिमान री।

करशे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्मचिन्हे सो ब्रह्म री।[3]
इह विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री।।

अर्थात् जो निज पद रमे सो राम, जो दूसरों पर रहम करे सो रहीम, कृष्ण वह है जो कर्मों का क्षय करे, महादेव वह है जो निर्वाण प्राप्त करे, पार्श्व वह है, जो शुद्ध आत्मा का स्पर्श सरे, ब्रह्म वह है जो आत्मा के सत्य रूप को पहचाने। उनका आत्मब्रह्म निष्कर्म, निष्कलंक और शुद्ध चेतनमय है।

आत्मा को अनेक नामों से पुकारने की जैन परम्परा अति प्राचीन है। योगीन्दु जैनों की उक्त प्राचीन परम्परा को आगे बढ़ाने वाले थे। वे कहते हैं, "हरि, हर, ब्रह्मा, बुद्ध जो चाहे सो कहो परन्तु वह परमात्मा तभी है जब वह परम आत्मा हो।"

जो परमप्पउ परमपउ हरि हरु बंभु वि बुद्ध।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिण देव विसुद्ध।।[4]

1. आणंदा, डॉ० वासुदेव सिंह, ना० प्र० प० काशी, वर्ष 64, 2016, पद 5
2. परमात्मप्रकाश, 1/122
3. आनन्दघन पद संग्रह, 67 वां पद
4. परमात्मप्रकाश, 2/200

परम आत्मा का लक्षण उन्होंने दिया है—

अप्पा गोइउ किण्हु णवि अप्पा रत्तु ण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थलु ण वि णाणि उ जाणे जोइ ।।[1]

परम आत्मा वह है जो न गोर हो, न कृष्ण हो, न सूक्ष्म हो, न स्थूल हो, न ज्ञानी हो आदि। इस प्रकार अनेक नामो से परमात्मा को संबोधित किया गया है। अपभ्रंश साहित्य में जिस पर्यायवाची का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है वह है—निरंजन।

इस प्रकार देखा कि हिन्दी के रहस्यवादी कवियो के साहित्य में विशेषकर निर्गुण संत काव्य में रहस्यवाद की वे सभी प्रवृत्तियां देखी जाती हैं जो उनसे पूर्ववर्ती जैन अपभ्रंश काव्य में मिलती है। आध्यात्मिक विवाह की चर्चा भी जैन अपभ्रश काव्यो में आई है जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। रूढ़ि और बाह्याचारों का जैन रहस्यवादी अपभ्रंश काव्यों में विरोध किया है जिसका उग्र रूप कबीर आदि मे मिलता है। एक उदाहरण देखिए—

मुडिय मुंडिय मुडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुडिया।
चित्तह मुंहणु जि कियउ। संसारहं खंडणु ति कियउ।[2]

अर्थात् अरे सिर मुंडाने वालों के सरदार ! तूने सिर तो मुडा लिया किन्तु अपने मन को नहीं मूंडा, जिस किसी ने मन को मूंड़ा उसने संसार का भी खंडन किया। इसी बात को कबीर अपने ढंग से कहते है—

केसो कहा बिगाड़िया, जे मुडे सौ बार।
मन कौं कहा न मूंडिये, जामें विषै विकार ।।[3]

अर्थात् तुम्हारे सिर के बालों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो उन्हें सैकड़ो बार मुडवाते हो। अपने मन को क्यो नहीं मूंडते जिसमें कि विषय विकार भरा है।

रहस्यवादी तत्वों में गुरु का महत्त्व भी स्वीकार किया गया है। जैन साहित्य में 'सतगुरु' पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। गुरु की महिमा का पता जैनों के मूलमन्त्र से ही चल जाता है—

णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाण।
णमो आइरीयाण, णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूण ।।

---

1. परमात्मप्रकाश, 1/31
2. पाहुड़ दोहा, दो० 135
3. कबीर-ग्रन्थावली, साखी 12, पृ० 46

इसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को गुरु रूप में नमस्कार किया है। कबीर गुरु और गोविन्द में भेद करते हैं। परन्तु जैनों के यहां आत्म और अनात्म के भेद को मिटाने वाला ही गुरु है। मुनि रामसिंह ने लिखा है—

> गुरु दिणयरु गुरु हिम करणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
> अप्पा परहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥[1]

कबीर ने कहा गुरु वह है जो ब्रह्म तक पहुंचने का रास्ता दिखाये। रास्ता वही दिखा सकता है जिसके पास प्रकाश हो। कबीर ने शास्त्र पोथियों से ब्रह्म प्राप्त नहीं होने की बात स्वीकार की थी। जीव लोक और वेद के अंधकार से ग्रस्त पथ पर चला जा रहा था, आगे 'सतगुरु' मिल गया और उसने ज्ञान दीपक दे दिया, मार्ग प्रकाशित हो गया जीव अभीष्ट गन्तव्य पा गया। इसी को देखिए—

> पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
> आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥[2]

मुनि रामसिंह का कहना है कि यह प्रकाश जिस स्थान से भी मिले ले लेना चाहिए—ज्ञान का प्रकाश ही मुख्य है—वह प्रकाश, जो आत्म ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग दिखाता है। इस प्रकाश को देने वाला ही गुरु है, फिर चाहे वह प्रकाश सूर्य से आये, चाहे चन्द्र से, चाहे दीपक से और चाहे किसी देव से।[3] यह गुरु पूजन का महत्त्व किसी विशेष सम्प्रदाय की विशेषता नहीं है। भारतीय संस्कृति में सदैव प्रकाश प्रदाता को आदर की दृष्टि से देखा गया है, अतः इसे जैन या जैनेतर की परंपरा से इतर भारतीय संस्कृति की परंपरा माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए!

इस प्रकार की दृष्टि से, साथ ही निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो जैन रहस्य-वादी काव्य का हिन्दी पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देगा।

---

1. पाहुड़ दोहा, प्रथम दोहा
2. कबीर-ग्रंथावली, गुरुदेव को अंग, 11 वां दोहा
3. पाहुड़ दोहा, प्रथम दोहा

परिशिष्ट-1

कुछ चुने हुए रहस्यवाद विषयक उद्धरण

परमात्मप्रकाश से

जो समभाव परिठियहं जोइहं कोइ फरेइ।
परमाणंदु जणंतु कुडु सो परमणु हवेइ ॥ 35

जं सिव दंसणि परम सुहु पावहि झाणु करंतु।
तं सुहु भुवणि वि अत्थिणवि मेल्लवि देउ अणतु ॥116

जं मुणि लहइ अणंत जग, णिय अथा झापंतु।
तं सुहु इंदु विणवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥ 117

णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सखरि लीणु जिम मण्एहउ पढिहाइ ॥ 1/22, पृ० 123

जो परमघउ परमाउ हरि हरू बंभु वि बुछु।
परम वयासु भणंति मुणि सो जिणदेउ विसुद्ध ॥
2/200, पृ० 337

अप्पा गोरउ किण्हु णवि अप्पा रत्तुणहोइ।
अप्पा सुहुम वि शूलुण वि णाणिउ जाणे जोइ ॥
अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईस णवि णीसु।
तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु विकाम विसेसु ॥
1/83, 91, पृ० 90, 94

अमणु अणिदिउ णाणमउ मुत्ति विरहिउ चिमित्तु।
अप्पा इंदिय विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥
मुत्ति विहूणउ णाणमउ परमाणंद सहाउ।
णियमि जोइय अप्पु मुणि णिधु णिरंजणु भाउ ॥ 1/31, 2 18

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बूभु परु देहहं मं करि भेउ ॥ 1/26

जो णिय भाउ परिहरइ जो परभाउण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥ 1/18

एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कलु देउ ।
सो तहिं णिवसइ परम पइ जो तइलोयहं झेउ ॥ 1/25

जासुण वणु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासुण जम्मणु मरणु ण वि णाउ निरंजणु तासु ॥ 1/19

जमु अब्भंतरि जगु बसइ जग अब्भंतरि जो जि ।
जागे जि बसंतु वि जगु जि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥1/41

तारायणु जाले घिवियउ णिम्मलि दीखइ जेम ।
अप्पए णिझलि बिंवियउ लोयालोउ वि तेम ॥ 2/102

अप्प णिय मणि निम्मलउ णियमें बसइ ण जासु ।
सत्थ पुराणइं तव चरणु मुक्खु वि करहिं कि तासु ॥ 1/98

जण णिरंजणि मणि धरिउ विसय कसायहिं तंतु ।
मोक्खहं कारण एत्त अण्णु न तंतु ण मंतु ॥1/123 पृ० 125

देउण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥
1/123 पृ० 124

जोइय विदहिं णाण मउ जो झाइज्जइ झेउ ।
मोक्खह कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥1/36

अप्पा मेल्लिवि णणमउ अण्णु परायउभाउ ।
सो छंडे विणु जीव तुहुं भावहि अप्प सहाउ ॥
अट्ठहं कम्महं वहिरउ सयलहं दोसहंचित्तु ।
दंसण णाण चरित्तमउ अप्पा भाविणिरत्तु ॥ 1/74, 75

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुए अण्णेण ।
जो झायंतहं परम पउ लब्भइ एक्क खणेण ॥ 1/97

जोइय विदहिं णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ ।
मोक्खहं कारण अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥ 1/36 पृ० 43

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ माउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं भावहि अप्प सहाउ ॥ 1/74 पृ० 80

अट्ठहं कम्महं वहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु ।
दंसण णाण चरित्तमउ अप्पा भावि णिरत्तु ॥ 1/75 पृ० 81

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुए अण्णेण ।
जो झायतहं परम पउ लब्भइ एक्क खणेण ॥ 1/97 पृ० 101

बनारसीविलास से

अध्यात्म बत्तीसी

ज्यों सुवास फल फूल में, दही दूध में घीव ।
पावक काठ पाषाण में, ज्यों शरीर में जीव ॥ 7

चेतन पुद्गल यो मिलें, ज्यों तिल में खलि तेल ।
प्रगट एक से देखिए, यह अनादि को खेल ॥ 4

वह वाके रससो रमे, वह वासो लपटाय ।
चुम्बक करषे लोह को, लोह लगे तिहं धाय ॥ 5

कर्मचक्र की नीद सो, मृषा स्वप्न की दौर ।
ज्ञानचक्र की ढराने में सजग भांति सब ठौर ॥ 17

अध्यात्म गीत

मैं विरहिन पिय के आधीन ।
यों ततकों ज्यों जल बिन मीन ॥ 3

मेरा मन का प्यार जो मिले
बाहिर देखूं तो पिय दूर बढ़ देखे घट में भरपूर ॥ 4

घटमहि गुप्त रहै निरधार । वचन अगोचर मन के पार ॥ 5

पिय मोरे घट में पियमाँहि । जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहिं ॥ 19

पिय मो करता मैं करतूति । पिय ज्ञानी मैं ज्ञानविभूति ।। 20

पिय सुखसागर में सुखसींव । पिय शिवमंदिर मैं शिवनींव ।। 21

अध्यात्मपद पंक्ति

बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि ।
अचरा गौ कहराय सरम गै छूटि ।। 1

पिउ सुधियावल वन में पैसिउ पेलि ।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि ।।

काय नगरिया भीतर चेतन भूप ।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप ।। 5

चेतन तुहु जनि सोवहु नींद अघोर ।
चार चोर घर मूंसहि सरवस तोर ।। 9

चेतन भयेहु अचेतन संगति पाय ।
चकमक में आगी देखी नहि जाय ।। 15

चेतन तुहि लपटात प्रेमरस फांद ।
जस राखल धन तोपि विमलनिशि चांद ।। 16

चेतन यह भव सागर धरम जिहाज ।
तिह चढ़ बैठो छोड़ लोक की लाज ।। 24

अध्यात्म फाग

अध्यात्म बिन क्यों पाइये हो, परम पुरुष को रूप ।
अघट अंग घट मिलि रह्यो हो, महिला अगम अनूप ।। 1

माया रजनी लघु भइ हो, समरस दिवशशिजीत ।
मोहपंक की थिति घटी हो, संशय शिशिर व्यतीत ।। 4

शुभदल पल्लव लहलहे हो होंहि अशुभ पतझार ।
मलिन विषय रति मालती हो, विरति बेलि विस्तार ।। 5

विषय विरष पूरो भयो हो, आयो सहज बसंत।
प्रगटी सुरुचि सगधिता हो मन मधुकर भयमत ॥ 2 ॥

अथ पहेली

करे विलास हास कौतूहल, अगणित संग सहेली।
काहु समय पाय सखियन सो, कहै पुनीत पहेली ॥ 3 ॥

मोरे आंगन विरवा उलछ्यो, बिना पवन झकुलाई।
ऊँचि डाल बड पात सघनवां छाँह सौत के जाई ॥ 4 ॥

बोले सखी बात मैं समुझी, कहुं अर्थ अब जो है।
तोरे घर अन्तर घटनायक, अद्भुत विरवा सो है ॥ 5 ॥

ऊंची डाल चेतना उद्धत, बड़े पात गुणभारी।
ममता बात गात नही परसे, छकनि छाछ छत नारी ॥ 6 ॥

पाहुड़ दोहा से

गुरु दिणयर गुरु हिकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं पर परह जो दरिसावइ भेउ ॥ 1 ॥

अण्णु म जाणहि अप्पणउ घरु परियणु तणु इट्ठु।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोडहि सिट्ठु ॥ 9 ॥

मोह विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु।
केवलणाणु वि परिणवइ अवरि जाह णिवासु ॥ 14 ॥

उपलाणहि जोइय करहुलउ दावणु छोडहि जिम चरइ।
जसु अखइणि रामई गयउ मणु सो किम बुहु जगि रइ करइ ॥ 42 ॥

मणु जाणइ उवरसडउ जहिं सोवेइ अचितु।
अचित्तहो चित्तु जो मलवइ सो पुणु होइ णिचिंतु ॥ 46 ॥

देहादेवलि जो बसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ॥ 53 ॥

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्तिविहीणु ।
दोहिं मि जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोह विलीणु ॥ 55 ॥

अणु बुहारउ णाणमउ लक्खिउ जाम ण भाउ ।
संकथवियधिउ णाणमउ दड्ढउ चित्तु वराउ ॥ 56 ॥

हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं ना हि पवेसु ।
संतु णिरंजणु तहिं बसइ णिम्मनु होइ गवेसु ॥ 94 ॥

णिल्लक्खणु इत्थीबहिरउ अकुलीणउ भहु मणि ठियउ ।
तसु कारणि आणी मांहु जेण गवेगउ संठियउ ॥ 99 ॥

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिलक्खणु णीसंगु ।
एकहि अंगि बसंतयहं मिलिउ ण अंगहि अंगु ॥ 100 ॥

असरीरहं संधाणु किउ सो धाणक्कु णिरुत्तु ।
सिवतत्ति णि संधियउ सो अच्छइ णिच्चिंतु ॥ 121 ॥

हलिसहि काई करइ सो दथणु ।
जहि पडि विंवु ण दीसाइ अप्पणु ॥
धंधवालु मो जग पडिहासइ ।
घरि अच्छेतु न खघइ दीसइ ॥ 122 ॥

कि किज्जइ बहु अक्खरहं जे कालि खउ जंति ।
जेम अणक्खरु संतु मुणि तव वढ मोक्खु कहंति ॥ 124 ॥

सिव सत्तिहिं मेलावडा-सिहु विरला बुज्झइ कोइ ॥ 127 ॥

गमणागमणविवज्जियउ जो तइलोयवहाणु ।
गंगइगरुवइ देउ किउ सो सण्णाणु अयाणु ॥ 137 ॥

अवधउ अक्खरु जं उप्पजइ ।
अणु वि किं पि अण्णाउ न किज्जइ ॥
आयइं चित्ति लिहि मणु धारिवि ।
सोउ णिचिंतिउ पाय परसारवि ॥ 144 ॥

विद्धा वम्मा मुट्ठिइण फुसिविलिहिहि तुहुं ताम ।
जहं संखहं जीहालु सिवि सड्डच्छलइ ण जाम ॥ 157 ॥

कड्ढइ सरिजलु जलिहिविविल्लिउ ।
जाणु पवाणु पवणपाडेपिल्लउ ॥
बोहु विवोहु तेम संघट्टइ ।
अवर हि उत्तउ ताणु पयट्टइ ॥ 167 ॥

अंबरि विविहु सहु सो सुम्मइ ।
तहि पडसरहुं तं बुच्चइ दुम्मड ॥
मणु पंचहिं सिहु अत्थवण जाइ ।
मूढा परमतत्तु फुडु तहि जि ठाइ ॥ 168 ॥

सहजअवत्थहि करहुलउ जोइय जतउ वारि ।
अखइ णिरामइ पेसियउ सडं होसइ सहारि ॥ 170 ॥

जइ एक्क हि पावीसि पय अकय कोडि करीसु ।
ण अंगुलि पय छय णइ जिम सव्वग य सीमु ॥ 177 ॥

वामिय किय अरु दाहिणिय मज्झइं वहइ णिराम ।
तहि गामडा जु जोवइ अवर वसावइ गाम ॥ 181 ॥

सयलीकरणु ण जाणियउ पाणिय पण्णइं भेउ ।
अप्पपरहु ण मेलयउ गगडु पुज्जइ देउ ॥ 184 ॥

देहादेवलि सिउ वसइ तुहु देवलइ निएहि ।
हासुउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धे भिक्ख भमेहि ॥ 186 ॥

वे छंडेविणु पंथड़ा विच्चे जाइ अलक्खु ।
तह्वो कल बेयहो किं पि णउ जइ सो जावइ लक्खु ॥ 188 ॥

उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
बलि किज्जउ तसु जोइ यहि जासु ण पाउ न पुण्णु ॥ 192 ॥

णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयल वावारो ।
एयाडं अवत्थ गओ सो जोयउ णत्थि संदेहो ॥ 203 ॥

वे पंथेहि ण गम्मइ वे मुह सूइ न सिज्जए कंथा।
विण्णि ण हुंति अयाणा इंदिय सोक्खं च भोक्ख च ॥ 213 ॥

कालहिं पवणहिं रविसासीति चहु एकट्ठडं वासु।
हउ तुंहि पुच्छउं जोइया पहिले कासु विणासु ॥ 219 ॥

ससि पाखइ रवि पज्जलइ पवणु हलोले लेइ।
सत्त रज्जु तमु पिल्लि कवि कम्मह कालु गिलेइ ॥ 220 ॥

मुखनासिकयोर्म्मध्ये प्राणान् संचरते सदा।
आकाशे चरते नित्यं स जीवो तेन जीवति ॥ 221 ॥

परिशिष्ट-2

सहायक सामग्री

1. परमात्मप्रकाश और योगसार सटीक—सम्पादक प्रो० ए० एन० उपाध्ये, रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला-10, सन् 1937 ई०।
2. पाहुड़ दोहा—सपादक डॉ० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, सन् 1933।
3. सावयधम्मदोहा –संपादक डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा जैन सीरीज, सन् 1932।
4. प्रवचनसार—संपादक प्रो० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० रामचन्द्र जैन शास्त्र-माला, सन् 1935 ई०।
5. कुन्द-कुन्द प्राभृत सग्रह—सपादक कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०-जैन संस्कृति संघ, शोलापुर, सन् 1960 ई०।
6. मूलाचार—ले० वट्टकेराचार्य, प्र०-माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि० स० 1977।
7. मूलाचार—प्रकाशन समिति फलटण, वीर सं० 2481।
8. रत्नकरंड श्रावकाचार—समन्तभद्राचार्य विरचित, प्रकाशन समिति फलटण वी० सं० 2481।
9. चारित्रसार।
10. नियमसार—प्रका० जैन ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय, हीराबाग, बंबई।
11. सूत्रकृतांग:निर्युक्ति सहित—पी० एल० वैद्य, पूना 1928।
12. आचारांग—सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुडगांव, 1951 ई०।
13. भावसंग्रह—श्री दिगम्बर जैन माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई।
14. तत्वसमुच्य—सं० डॉ० हीरालाल जैन।
15. सागार धर्मामृत—पं० आशाधर : मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
16. अनगार धर्मामृत—आशाधर : जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति फलटण।
17. तत्त्वार्थ सूत्र—संपा० पन्नालाल धर्मालंकार, वि० सं० 2007।

18. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व-पीठिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० वर्णी ग्रन्थमाला, भदैनी, वाराणसी, सन् 1963।
19. जैन धर्म—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, वि० सं० 2011।
20. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—डॉ० हीरालाल जैन, प्रका० मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् 1962।
21. जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि—डॉ० प्रेमसागर जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् 1963।
22. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री कामताप्रसाद जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् 1947।
23. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, चतुर्थ संस्करण, सन् 1958।
24. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल।
25. अपभ्रंश-साहित्य—हरिवंश कोछड, वि० सं० 2013।
26. हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डॉ० प्रेमनारायण, प्रका० पद्मजा प्रकाशन कानपुर, सम्वत् 2010।
27. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवरसिंह, लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् 1961।
28. कबीर-ग्रन्थावली—सम्पादक श्यामसुन्दरदास, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
29. कबीर-साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, प्रका० भारती भण्डार, प्रयाग, सं० 2011।
30. रहस्यवाद—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-4 सं० 2100।
31. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रका० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, बंबई, फरवरी 1940।
32. चिद्विलास—सम्पूर्णानन्द, प्रकाशक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी, सं० 2001।
33. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पं० जयशंकर 'प्रसाद', प्रका० भारती भण्डार-लीडर प्रेस, इलाहाबाद सं० 2015।
34. जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, प्रका० यशोधर मोदी, विद्याधर मोदी, ठाकुरद्वार, बम्बई-2, सन् 1956।

35. पुरानी हिन्दी—श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् 2005।
36. कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, प्रका० साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् 1944।
37. आधुनिक कवि—महादेवी वर्मा एम० ए०, प्रका० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग शक् 1880।
38. मध्यकालीन धर्म-साधना—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रका० साहित्यभवन, लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् 1952।
39 बनारसीविलास, सम्पादक—श्री भंवरलाल जैन न्यायतीर्थ, श्री कस्तूरचंद कासलीवाल, प्रका० केशरलाल बख्शी, न्यू कालोनी, जयपुर सं० 2011।
40. उत्तरी भारत की सत-परम्परा—पं० परशुराम चतुर्वेदी, प्रका० भारती भण्डार, प्रयाग, सं० 2008।
41. श्रीमद्भगवद्गीता—प्रका०-श्री प० कामेश्वर पाठक, काव्य व्याकरण तीर्थ सम्वत् 1976।
42. मयणपराजय चरिउ—सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1944।
43. दर्शन और चिन्तन—पं० सुखलालजी सम्मान समिति, गुजरात अहमदाबाद-1 1957 ई०।
44. घनानन्द—सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रकाशक सरस्वती मंदिर जतनधर, वाराणसी, सं० 2016।
45. कसाय पाहुड़—जयधवला टीका सहित : प्रका० जैन सघ मथुरा 1944 आदि।
46. गोम्मटसार जीवकाण्ड—रामचन्द्र जैन शास्त्र माला, 1916 ई०।
47 छहढाला—दौलतराम।
48. मोक्षपाहुड़—प्रका० मा० दि० जैन ग्रन्थमाला।
49. म्यूजिस्टसिज्म, इवेलिन अण्डर हिल, प्रका० मैथ्यून एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 36 इसेक्स स्ट्रीट लन्दन, 1940 ई०।
50. मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र—आर० डी० रानाडे एम० ए०, प्रका० आर्य-भूषण प्रेस, पूना 1933 ई०।
51. ऋषभदेव—चम्पतराय जैन, प्रका० जैनमित्र मण्डल धरमपुरा, देहली 1935 ई०।
52. इण्डियन बुद्धिस्ट इकोनोग्राफी—बी० भट्टाचार्य, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रस, 1924 ई०।

53. दि हिन्दू मिस्टीसिज्म—एस० एन० दास गुप्ता, प्रका० शिकागो 1944 ई० ।
54. इण्डियन फिलोसोफी – सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ।
55. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स—वोल्यूम 9
56. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका—वाल्यूम 16, सन् 1768 ।
57. दि फिलोसोफीकल स्टडी आफ मिस्टीसिज्म, चार्ल्स ए० बैनेट ।
58. दि मीटिंग आफ दि ईस्ट एण्ड दि वैस्ट इन श्री अरविन्दाज फिलोसोफी— ले० एस० के० मैत्र ।

पत्रिकाएं

59. अनेकान्त—प्रका० वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली : अनेक वर्षों के ।
60. वीरवाणी, प्रका० जयपुर वर्ष 3, अंक 14, 15, 21
61. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वर्ष 64, अक 1, सं० 2016 एवं अन्य ।
62. परिषद् पत्रिका ।
63. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी वाल्यूम 9
64. अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-विभाग, चण्डीगढ़, पंजाब की वार्षिक लेखक गोष्ठी 1961-62

□□

[का० हि० वि० वि० की एम० ए० परीक्षा के लिए प्रस्तुत लघु-प्रबन्ध]